जिन्होने राह दिखाई

जिन्होंने राह दिखाई

संग्रामसिंह चौधरी

ज्ञान गंगा, दिल्ली-६

प्रकाशक ज्ञान गंगा
२०५-सी, चावड़ी बाज़ार, दिल्ली-११०००६
संस्करण १९९०
मूल्य तीस रुपये

JINHONE RAH DIKHAI biographies
by Sangram Singh Chaudhari Rs 30.00

दो शब्द

धरती पर जब मानव का जन्म हुआ तो वह आकाश, सूरज, चाँद, बिजली, भूकम्प और मौसम आदि दैवी शक्तियों से आतंकित और विस्मित तो अवश्य हुआ परन्तु उसकी सहज प्रकृति के इन सबके सामने झुकने से इन्कार कर उनके रहस्यों का आवरण हटाने का संकल्प किया। हजारों पीढ़ियों के सतत प्रयत्नों से मानव ने न केवल प्रकृति की बाधाओं को धरती ही पर पार किया, वरन् सुदूर अन्तरिक्ष में भी विजय के नये कीर्तिमान स्थापित किये।

यद्यपि यह उपलब्धियाँ सम्पूर्ण मानव समाज की हैं—देश, काल और जातियों की सीमाओं में बँधी हुई नहीं हैं—फिर भी हजारों-लाखों साहसी और उद्यमी अन्वेषकों में से कुछ के नाम सदैव के लिए अमर हो गये हैं। उन्होंने प्रकृति के रहस्यों पर विजय पाने के लिये सारा जीवन खपाकर यश, धन आदि सुखों की चिन्ता न करते हुए, मृत्यु के खतरे को हँसते-हँसते गले लगाया। उनके कार्य सदैव ध्रुव तारे के समान मानव को प्रगति की राह दिखाते रहेंगे।

उनके जीवन का अनुसरण कर हमारी नई पीढ़ी भी मानव की विजय यात्रा में अपना योगदान दे सके, यही हमारी शुभाकांक्षा है।

अनुक्रम

१	आइज़क न्यूटन	६
२	एल्बर्ट आइंस्टाइन	२२
३	मेरी क्यूरी	३४
४	जगदीशचन्द्र बसु	४४
५	डॉक्टर चन्द्रशेखर वेंकटरमण	५३
६	डॉक्टर होमी जहांगीर भाभा	६१
७	राबर्ट एडविन पेरी	७०
८	शेरपा तेनसिंह	८६
९	यूरी गगारिन	१०४

आइजक न्यूटन



"मैं नही जानता कि दुनिया मुझे क्या समझती है। मैं तो अपने को समुद्र के किनारे खेलते हुए एक ऐसे लडके के समान मानता हूँ जो जब-तब अपने मनोरजन के लिए चिकने पत्थर या सीपियाँ खोज लेता है। पर, सत्य का अथाह सागर मेरे सामने अनखोजा ही पडा है।"

—आइजक न्यूटन

आइजक न्यूटन का जन्म इगलड के एक छोटे-से खेतिहर गाँव मे २५ दिसम्बर, १६४२ को क्रिसमस के दिन हुआ था। ईश्वर ने सचमुच इस ससार के लिए इन्हे एक उपहार के रूप मे ही तो भेजा था। एक नन्हा-सा उपहार—क्योकि उनकी माँ प्राय बताया करती थी कि आइजक जन्म के समय इतने छोटे थे कि उन्हें क्वाटर-साइज के पात्र मे बडी सुगमता के साथ रखा जा सकता था। माँ पहले ही विधवा हो चुकी थी और अब यह नन्ही-सी जान नौ महीने से पहले ही पृथ्वी पर आ गई। डाक्टरो ने उन्हें देखकर कहा था कि इनके अधिक जीने की कोई सम्भावना नही। किन्तु न्यूटन अपनी युवावस्था को पार भी न कर पाये थे कि उनकी गणना इतिहास में इने-गिने महान् वैज्ञानिको मे की जाने लगी।

गुरुत्वाकर्षण मे, गणित मे, दृष्टि विज्ञान मे और मैकेनिक्स मे न्यूटन के अन्वेषण इतने मौलिक एव दूरगामी हैं कि उनमे से कोई भी एक उसको इतिहास मे अमर बनाने के लिए पर्याप्त है चाहे उसने सारे जीवन मे और कुछ भी न किया होता।

माँ ने जब पुनर्विवाह कर लिया और वह अपने पति के साथ रहने लगी तो बालक आइजक की देखरेख उनकी दादी के यहाँ होती रही। बचपन मे वह साधारण बालक थे, उनमे अद्भुत प्रतिभा का कोई चिन्ह नही मालूम पडता था और कक्षा मे तो वह बडे मन्दबुद्धि छात्र समझे जाते थे। स्कूल मे भर्ती कराने पर उनका मन वहा नही लगा। उनका मन लगता था कल पुर्जों के देखने मे और मशीन बनाने मे।

न्यूटन ने स्वय हवाई चक्की का एक छोटा सा मॉडल तैयार किया था जो कि वास्तव मे चलता भी था। उन्होने पानी से चलने वाली घडियाँ और पत्थर की शिला पर एक सूर्य-घडी बनाई थी, जो अब 'रॉयल सोसाइटी लन्दन' की सम्पत्ति है। उन्हे दिन-रात पढते रहने का, रेखाचित्रो की नकल उतारने का, फूल और जडी-बूटियो को इकट्ठा करने का चाव था।

न्यूटन की अवस्था जब तेरह वर्ष की थी तो उनके सौतेले पिता की भी मृत्यु हो गई। माँ अपने कृषि-फार्म पर पुन लौट आई। "मैं चाहती हूँ कि तुम एक अच्छे किसान बनो," कहते हुए माँ ने न्यूटन को स्कूल से हटा लिया। कृषि फार्म सम्भालने के लिए एक सहायक की आवश्यकता भी थी। परन्तु कृषि के इन कामो के लिए युवक न्यूटन बिलकुल अयोग्य सिद्ध हुए। उन्हें इस काम मे तनिक भी रुचि न थी, बल्कि वह कुछ-न-कुछ पढते ही पाये जाते अथवा फिर दिवास्वप्नो मे या लकडी के

मॉडल बनाने में दुनिया की सुध से बेखबर रहते। माँ भी आखिर समझ गईं कि इनको स्कूल मे भर्ती करा देना चाहिए।

१८ वर्ष की अवस्था मे न्यूटन ने इगलैंड के प्रसिद्ध कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय मे प्रवेश लिया और विश्वविद्यालय के ट्रिनिटी कालेज मे उनकी शिक्षा होने लगी। कैम्ब्रिज मे चार वर्ष व्यतीत होने के उपरान्त १६६५ मे उन्हे बी० ए० की उपाधि मिली। कैम्ब्रिज मे अध्ययन करते हुए ही उनकी अपने गणित प्राध्यापक आइजक बैरो से घनिष्टता हो गई। बैरो पहचान गये कि न्यूटन एक मेधावी छात्र है। उन्होने उन्हे प्रोत्साहित किया कि वह गणित मे ही विशेष अध्ययन करें। बडी तन्मयता से उन्होने अध्ययन किया। पढते समय वह अपनी सुध-बुध खो देते थे। उनके विषय मे प्रसिद्ध है कि एक बार जब वह पढ रहे थे, उनका एक मित्र आया। न्यूटन पढने मे एकाग्रचित्त थे और उनका खाना टेबल पर रखा हुआ था। मित्र ने न्यूटन की पढाई मे कोई हस्तक्षेप नही किया। उसने केवल खाना खा लिया और बरतन ढक दिया। न्यूटन को इस बात की कोई खबर नही हुई। पढने के पश्चात् वह खाना खाने टेबल पर आये। बरतन खाली देख कर उन्होने कहा, "मैं तो समझता था कि मैंने खाना नही खाया है, लेकिन लगता है, मैंने खा लिया है।" उन्हे इस बात का पता नही था कि खाना उन्होने नही, उनके मित्र ने खाया है।

इगलैंड मे उन दिनो ब्यूबानिक प्लेग की महामारी का आतक था। कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय मे छुट्टियाँ घोषित कर दी गईं और विद्यार्थी अपने-अपने घरो को चले गये थे। न्यूटन भी अपनी माँ के पास लौट आये और लगभग डेढ़ वर्ष विश्वविद्यालय खुलने तक अपढे कृषि फार्म वाले मकान पर ही रहे।

फार्म पर खेतो के बीच गुजारे ये १८ महीने विज्ञान के इतिहास मे सम्भवत बहुत ही महत्वपूर्ण दिन थे। इन्ही दिनों मे न्यूटन ने मैकेनिक्स के मौलिक सिद्धान्तो का अन्वेषण किया और उनका प्रयोग ग्रह-मण्डल की गतिविधि मे भी उसी तरह कर दिखाया।

न्यूटन की विज्ञान को सबसे बडी देन थी—'गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त।' एक बहुत छोटी घटना से इस सिद्धान्त का जन्म हुआ। वह एक सेब के पेड के नीचे बैठे पढ रहे थे कि उन्होंने एक सेब पेड से टूटकर जमीन पर गिरते देखा। उनके दिमाग मे उथल-पुथल मच गई और अचानक ही एक प्रश्न उनके मस्तिष्क मे उठा कि यह फल टूटकर पृथ्वी पर ही क्यो गिरा? विपरीत दिशा मे क्यो नही चला गया? इस प्रश्न पर उन्होने खूब सोच-विचार किया। आखिर उन्होने एक नया सिद्धान्त खोज निकाला —'आकर्षण-शक्ति का सिद्धान्त।' उन्होने बताया कि पृथ्वी मे आकर्षण-शक्ति है। इस शक्ति के कारण ही फल पृथ्वी की ओर आया।

न्यूटन ने अपने सिद्धान्त के बारे मे और गहराई से सोच-विचार किया। उनकी दृष्टि चन्द्रमा पर गई। उन्होने सोचा, "चन्द्रमा पृथ्वी से इतनी दूर क्यो है, पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति के कारण नीचे क्यो नहीं आ जाता? इस प्रश्न का उत्तर उन्होंने यह पाया—'पृथ्वी चन्द्रमा को तो अपनी ओर खीच रही है, लेकिन चन्द्रमा मे पृथ्वी के चारो ओर घूमने की शक्ति है इस घूमने के कारण चन्द्रमा नीचे नहीं आता, एक घेरे में घूमा करता है।"

न्यूटन ने अपना सिद्धान्त तो बना लिया, परन्तु उन्होने इसे

बहुत समय तक प्रकाशित नहीं कराया। 'डिफरेंशल तथा इन्टेग्रल कैल्क्युलस' का अविष्कार किया और दृष्टि-विषयक विश्व विख्यात नियमो का अनुसधान किया। अपना शेष जीवन उन्होंने इन्ही नियमो की व्याख्या मे, उनको बढाने और क्रियात्मक प्रयोगो में गुजारा। पर बौद्धिक सर्जन की उनकी वैज्ञानिक वृत्ति इन्ही १८ महीनो मे प्रदर्शित कर चुकी थी।

अपने इन विलक्षण अन्वेषणो एव अनुसन्धानो को न्यूटन ने एक दम प्रकाशित नही किया। चुप रहने का उनका स्वभाव-सा बन गया था, जिसके कारण उन्हें सम्पूर्ण जीवन किसी-न-किसी वाद-विवाद या झमेले में उलझे रहना पडा।

१६६७ में जब कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय पुन खुला तो वहाँ न्यूटन को पढाने का कुछ काम मिल गया। उन्होंने वहाँ आशातीत उन्नति की, क्योंकि २६ वर्ष की अवस्था में वह अपने गुरु एव अभिभावक आइजक बैरो के उत्तराधिकारी और गणित के प्रोफेसर नियुक्त हो चुके थे।'

न्यूटन बडे समय से प्रकाश-विषयक परीक्षण व्यापक पैमाने पर कर रहे थे। उन्होंने कुछ टेलिस्कोप भी बनाये थे, पर वह अपने इस सब काम-काज से सन्तुष्ट नही थे। उनके बनाये ये उपकरण भी, जो दूर लोक की छाया उतारते थे, समकालीन अन्य दूरवीक्षण यन्त्रो की भाँति थे। उनके किनारो मे भी कुछ-न-कुछ रगीनी-सी आ जाती थी। न्यूटन के मस्तिष्क मे प्रश्न उठता—'ऐसा क्यो ? और इस समस्या का समाधान करने के लिए उन्होंने प्रकाश की वृत्ति का सूक्ष्म अध्ययन किया। एक त्रिभुजाकार प्रिज्म पर सूर्य की किरणें डाली। बन्द कमरे मे खिडकी के एक छेद से ये किरणें प्रवेश पाती। उन्होंने देखा कि

किस प्रकार श्वेत किरण फटकर दूसरी ओर दीवार पर एक सुन्दर सतरंगिनी बन जाती है। सातो रंगो मे भी एक निश्चित क्रम था—लाल, नारंगी, पीला, हरा, नीला, जामुनी और बैंगनी।

अब उन्होने एक प्रयोग किया कि सिर्फ एक ही रंग—मान लो, बैंगनी दीवार पर पड़े और शेष रंग आगे न आने पायें। यह बैंगनी रंग की किरण फिर एक दूसरे प्रिज्म मे से गुजारी गई। न्यूटन ने पाया कि इस बैंगनी किरण की दिशा तो कुछ बदल जाती है, किन्तु प्रिज्म मे से दोबारा गुजरने पर उसके रंग मे किसी प्रकार का अन्तर नही आता। वह अब भी बैंगनी ही रहती है। यही परीक्षण उन्होंने हर रंग की किरण से बार-बार करके देखा। श्वेत किरण से एक बार विभक्त होकर ये रंग फिर और आगे नही फटते थे। हाँ, दोबारा प्रिज्म मे से गुजरने पर हर रंग की दिशा में एक विशेष और अलग ही अन्तर आ जाता था। न्यूटन का निष्कर्ष बड़ा आश्चर्यजनक था, लेकिन था बड़ा सरल। सूर्य की श्वेत किरणें वस्तुत सात रंगो का ही मिश्रण हैं। प्रिज्म का शीशा इन सातो रंगो को अलग-अलग दिशान्तरण दे देता है, जिसके कारण ये अलग-अलग फट जाते हैं।

न्यूटन इन परीक्षणो के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ऐसा लैंस बना सकना असम्भव है जिसमे रंगो की यह झालर जरा-सी भी न आये। अत उन्होने एक रिफ्लैक्टिंग टेलिस्कोप का आविष्कार किया जिसमें तारो के प्रकाश को एक बिंदु पर केन्द्रित करने के लिए धातु से निर्मित प्याले के आकार का एक दर्पण प्रयोग किया जाता है। क्योंकि प्रत्येक प्रकार के टेलिस्कोप

में प्रकाश को शीशे मे से गुजरना ही नही पडता, किरण के अशो को अलग-अलग दिशा ग्रहण नही करनी पडती, इसीलिए वह वर्ण-मिश्रण भी अब नही होता। आश्चर्य तो इस बात पर होता है कि ऐसे लेंस तैयार करने मे जिनमे कि रगीनी का स्पर्श आये ही नही, वैज्ञानिको को एक शताब्दी और लग गई। अलग-अलग प्रकार के शीशो को मिलाकर बनाये गये लेंसो मे आज-कल वह पुराना वर्णस्पर्श नही आता।

न्यूटन ने अपने बनाये टेलिस्कोप की भीतरी रचना स्वय अपने ही हाथो से की थी। न्यूटन के दर्पण का व्यास लगभग एक इच था, जबकि माउण्ट पैलोमार की कैलीफोर्निया इस्टीट्यूट आफ टेक्नालॉजी की वेधशाला मे एक रिफ्लैक्टिंग मिरर (दपण) का व्यास लगभग १७ फुट है।

दृष्टि विज्ञान के विषय मे उनके अनुसन्धानो का और उनके प्रथम वैज्ञानिक निबन्ध का यही विषय था। इस पर उनकी समान रूप से आलोचना और प्रशसा दोनो ही हुई। न्यूटन को अपनी स्थापनाओ के प्रतिपादन मे उस युग के योग्यतम वैज्ञानिको—क्रिश्चन, ह्यूजेंस, रॉबर्ट हुक आदि के आक्षेपो का प्रतिवाद करना पडा था। इन वाद-विवादो के प्रसगो से ही विज्ञान को प्रणाली विषयक एक नवीन दिशा सकेत देने का उन्हें अवसर मिला था—"विज्ञान मे कुछ भी कार्य करने का सबसे अच्छा, सुरक्षिततम उपाय यही हो सकता है कि पहले तो वस्तुओ के गुणो का अन्तर-वीक्षण मनोयोग के साथ किया जाये और फिर इन गुणों को परीक्षण द्वारा प्रतिपादित करते हुए उनकी व्याख्या मे शनै शनै कुछ उपयुक्त स्थापनाएँ उपस्थित की जायें।"

न्यूटन अपने वैज्ञानिक अनुसन्धानों में लगे रहने पर भी विश्वविद्यालय का प्रतिनिधित्व पालियामेण्ट मे करने के लिए समय निकाल लेते थे।

१६८४ मे विश्वविख्यात नक्षत्रविद् एडमण्ड हैली ग्रहों की गतिविधि के विषय में केपलर के सिद्धान्तो पर विचार-विनिमय के लिए न्यूटन के पास पहुँचे। बातो-ही-बातों में हैली को भी न्यूटन ने 'गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त' की स्थापना के विषय में बताया। हैली ने न्यूटन को प्रेरित किया कि वह इन अन्वेषणों को प्रकाशित करायें। न्यूटन को इसमें कठिनाई न हो, इसलिए यह भी स्वीकृति दी कि मुद्रण का सारा व्यय वह स्वय उठायेंगे। फलस्वरूप 'फिलासोफियाए नेचरलिस प्रिंसीपिया मैथमेटिका' का प्रकाशन तीन खण्डो मे उस युग की वैज्ञानिक भाषा लैटिन मे प्रस्तुत हुआ।

न्यूटन ने अपने गति-नियमों की रूपरेखा 'प्रिंसीपिया' में प्रस्तुत की है। पहला नियम है—"अचल स्थिति मे पडी कोई वस्तु अचल ही पडी रहेगी, जब तक कि उसकी उस स्थिति को बलात् परिवर्तित नही कर दिया जाता; और गति की स्थिति मे प्रवसमान कोई भी वस्तु उसी गति से निरन्तर चलती ही रहेगी, जब तक कि उसकी दशा में कोई बलात् परिवर्तन नहीं ले आया जाता।"

न्यूटन ने अनुभव किया कि किसी भी वस्तु को चलायमान करने के लिए वह वस्तु चाहे वृक्ष से गिरता कोई फल हो या सागर में उठा ज्वार हो, स्थिति-परिवर्तन के लिए शक्ति की, बल की आवश्यकता होती है। तनिक सोचिए—जिस गाड़ी में आप यात्रा कर रहे हैं, सहसा रुक जाये तो क्या

होगा ? क्योंकि हमारे शरीर मे तो अभी वही गति है, हम रुक नही सकेंगे अगर हमारा सिर सामने की सीट से एकदम टकरा नही जाता। इस बात को यद्यपि लोग पहले भी जानते थे किन्तु न्यूटन ने इसे गणित के नियमानुसार एक 'सूत्र' का रूप दे दिया।

न्यूटन ने गति के दूसरे नियम मे यह प्रतिपादन किया है—"गति मे परिवतन किस प्रकार आ रहा है, यदि हमे यह ज्ञात हो जाये तो हम उस परिवतन के लिए वाछित शक्ति का परिमाण भी जान सकते हैं।" गति मे परिवतन की इस नियमितता को विज्ञान में आरोहावरोह (एक्सिलरेशन) कहते हैं—जिसका अर्थ गति में घटती-बढती दोनो हो सकता है। उदाहरणार्थ, एक मोटरगाडी को ३० मील प्रति घण्टा की गति पर लाने के लिए अधिक शक्ति की आवश्यकता है, अपेक्षाकृत उसी गाडी को उतने ही समय मे शून्य से २० मील प्रति घण्टा की गति में ले जाने के लिए।

दूसरे नियम का एक दूसरा निष्कर्ष यह भी निकलता है कि ६० मील प्रति घण्टा की गति से चली जा रही एक मोटर को दस सेकण्ड के भीतर रोकने के लिए उतनी ही शक्ति आवश्यक है जितनी ३० मील की गति से चली जा रही उसी गाडी को पाँच सेकण्ड में रोकने के लिए अपेक्षित होगी।

गति का तीसरा नियम यह है—"प्रत्येक क्रिया की उसके विरुद्ध समान प्रतिक्रिया होती है।" इस नियम के अनेक उपयोग

हैं, सम्भवत जिनमे सबसे अद्भुत राकेटो की उड़ान मे प्रत्यक्ष होता है। उधर, गरमागरम गैसें पीछे की ओर निकलनी प्रारम्भ होती हैं और इधर राकेट आगे की ओर गति मे आना शुरू कर देता है।

गुरुत्वाकर्षण का व्यापक नियम सम्भवत इन सभी सिद्धान्तों से कही अधिक विस्मयकारी था। न्यूटन ने इसमे प्रतिपादित किया है कि पृथ्वी का प्रत्येक कण दूसरे कणो के साथ एक खिंचाव के द्वारा बँधा हुआ है। पृथ्वी जहाँ पेड पर लदे हुए फल को अपनी ओर खीचती है, वहाँ फल भी धरती को अपनी ओर खीच रहा होता है। यह नियम ग्रह-नक्षत्र पर भी उसी प्रकार लागू होता है। सूर्य पृथ्वी को अपनी ओर खीचता है, पृथ्वी चन्द्रमा को और चन्द्रमा पृथ्वी को। गणित के एक सूत्र मे यही बात प्रस्तुत करनी हो तो कहेगे कि दो वस्तुओ का परस्पर आकर्षण दो बातों पर निर्भर करता है—एक तो इस पर कि दोनो वस्तुएँ कितनी भारी हैं, और दूसरी इस पर कि उनमें निकटता व दूरी कितनी है।

'प्रिंसीपिया' के दूसरे भाग में प्रथम भाग की कल्पनाओ को आगे बढाया है और कुछ नये विचार—गति के अवरोध के सम्बन्ध में—भी आये हैं। यहा, उदाहरणार्थ, न्यूटन ने समझाया है कि समुद्र मे जहाज बिना किसी प्रकार की रुकावट के चलता रहे, इसके लिए उसका आकार कैसा होना चाहिए। पुस्तक के इसी अश मे तरगो की गति का वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है, जिसका समर्थन आधुनिक वैज्ञानिक अक्षरश कर चुके हैं, क्योंकि आज के युग में भौतिकी को उसकी आवश्यकता बहुत अधिक है।

ग्रन्थ के तीसरे अंश को मानव-बुद्धि का एक महान् चमत्कार माना जाता है। पृथ्वी पर प्रक्षेपित वस्तुओं की गतिविधि के अध्ययन द्वारा न्यूटन गति तथा गुरुत्वाकर्षण के मौलिक सिद्धान्तों पर पहुँचे और दोनों ही नियमों को सूर्य की परिक्रमा में संलग्न सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड पर सही पाया गया। इन्हीं के द्वारा सूर्य तथा पृथ्वी के परिमाण तक को सदैव के लिए माप-तोल-कर रखा गया। गणित के आधार पर यह भी बताया गया कि ध्रुवों पर धरती चपटी क्यों होती है, और भूमध्य रेखा पर उभरी हुई क्यों? चन्द्रमा के परिक्रमण पथ में ये अनियमितताएं क्यों आती हैं? क्योंकि सूर्य का विशालकाय परिमाण उसे निरन्तर अपनी ओर खींच रहा होता है? सूर्य और चन्द्रमा दोनों समुद्र को अपनी-अपनी ओर खींचते हैं—इन ज्वार-भाटों की गणना भी गणित के दो-एक सरल नियमों द्वारा की जा सकती है।

न्यूटन का गणित सही-सही बता देता है—दो वस्तुओं में परस्पर आकर्षण कितना होता है। परन्तु इस गुरुत्वाकर्षण का कारण क्या है, इस प्रश्न पर वह कुछ भी सुनना नहीं चाहते थे। "हमारे लिए बस, इतना ज्ञात कर लेना ही पर्याप्त है कि गुरुत्वाकर्षण कुछ है जो इन नियमों के अनुसार सक्रिय होता है और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की, समुद्रों की, गतिविधि की व्याख्या करने के लिए पर्याप्त है।"

१६९९ में न्यूटन को टकसाल का 'मास्टर' बना दिया गया। १७०३ में उन्हें 'रायल सोसाइटी का प्रधान चुना गया। वह मृत्यु-पर्यन्त इस पद पर बने रहे।

१७०५ में महारानी ऐनी ने उन्हें 'सर' की उपाधि प्रदान की।

न्यूटन स्वभाव से बहुत गम्भीर थे। हलकी बातों से वह सदैव दूर ही रहे। उनकी पुस्तक-सूची से ज्ञात होता है कि कला, संगीत, कविता, साहित्य आदि में उनकी कोई रुचि नहीं थी। अपने खान-पान और पहनने-ओढ़ने में भी लापरवाह रहते थे। उन्होंने जीवन भर शादी नहीं की। सम्भवतः वैज्ञानिक अनुसन्धान में अत्यधिक व्यस्त रहने के कारण मानव-जीवन की दूसरी गति-विधियों में भाग लेने के लिए उनके पास समय का अभाव बराबर रहा होगा। स्वभाव से वह दयालु और सौम्य प्रकृति के थे।

न्यूटन सत्य के अन्वेषक थे। सत्य अनन्त है, उसकी कोई सीमा नहीं है। संसार में जो कुछ भी हम देख रहे हैं, उतना ही सत्य नहीं है, उससे परे भी बहुत कुछ सत्य है। जिस वैज्ञानिक और विचारक की दृष्टि जितनी पैनी होती है, वह सत्य के उतने ही अधिक अंश को देख सकता है। महान् वैज्ञानिक इस तथ्य को समझता है। स्वयं न्यूटन ने बड़ी विनम्रता के साथ स्वीकार किया था—"मैं नहीं जानता कि दुनिया मुझे क्या समझती है। मैं तो अपने को समुद्र के किनारे खेलते हुए एक ऐसे लड़के के समान मानता हूँ, जो जब-तब अपने मनोरंजक के लिए चिकने पत्थर या सीपियाँ खोज लेता है, पर सत्य का अथाह सागर मेरे सामने अनखोजा पड़ा है।"

१७२७ ई० में सर आइज़क न्यूटन की मृत्यु हुई। तब

उनकी आयु ८५ वर्ष की थी। ऐसी प्रतिभा युगों में कभी-कभी ही अवतरित होती है। लेकिन न्यूटन ने स्वयं पूर्व आचार्यों का ऋण स्वीकार करते हुए कहा था—"यदि मैं कुछ भी आगे देख सका हूँ तो वह दिग्गजों के कन्धों पर खड़े होकर ही।"

एल्बर्ट आइन्स्टाइन



"मेरा स्वप्न था कि एटम का प्रयोग मानव-जाति की सेवा में किया जायेगा, लेकिन इसका उपयोग तो विश्व-संहारक के रूप में हो रहा है।"

—एल्बर्ट आइन्स्टाइन

एल्बर्ट आइन्स्टाइन का जन्म १४ मार्च, १८७९ को उल्म, दक्षिणी जर्मन के एक नगर में हुआ था। एक साल पश्चात् ही इनका परिवार यहाँ से उठकर म्यूनिख में आकर रहने लगा था। एल्बर्ट के पिता एक मामूली इलेक्ट्रो-कैमिकल फैक्टरी के

मालिक थे और ऑपरेटर भी। एल्बट के चाचा ने इञ्जीनियरिंग मे प्रशिक्षण प्राप्त किया था। उन्होने विवाह नहीं किया था, इसलिए वह भी आकर इन्ही के पास रहने लगे और परिवार के कार्य मे सहायता भी करने लगे। माँ सगीत की बडी शौकीन थी और विशेषकर बीथोवेन की।

माँ की इस रुचि का परिणाम यह हुआ कि बालक को छह वर्ष की अवस्था से ही वॉयलिन मे सबक सिखाया जाने लगा। आइन्स्टाइन को प्रारम्भ मे तो यह विद्या-दान बहुत बुरा लगा, लेकिन शनै-शनै वह इस कला मे निपुण होते गये। मोजार्ट की एक-स्वर, द्वि-सर, सरल धुनें, आइन्स्टाइन को रुचि का सगीत था। सगीत की यह प्रारम्भिक शिक्षा आइन्स्टाइन की आजीवन सगिनी रही—वह थके हारे इन्ही गीतो मे क्षणिक विश्रान्ति और सुख से आनन्दित हुआ करते थे।

बचपन मे आइन्स्टाइन मे प्रतिभाशाली होने के लक्षण दिखाई नही दिये। वह साधारण बच्चो की अपेक्षा बोलना भी देर से सीखे, जिससे माँ-बाप को शका हो उठी कि बालक मन्दबुद्धि है, जड है। बहुत छोटी अवस्था मे ही वह अपनी अवस्था के बच्चो से अलग-से रहने लगे और सारा दिन कुछ-न-कुछ करते रहना ही उनकी दैनिक दिनचर्या बन गई। वह किसी प्रकार का परिश्रम का काम अथवा व्यायाम नही कर सकते थे। भाग-दौड के खेलो से, और 'सिपाही बनने' से तो जैसे उन्हें सचमुच ही घृणा हो। उन दिनो म्यूनिख की गलियो मे आये दिन जर्मन सेना परेड करने निकला करती और बच्चे उसे बडे चाव से देखने आते, लेकिन एल्बर्ट का दिल तो इन दृश्यो से

बैठने ही लगता । उन्हें यह देख कर आश्चर्य होता था कि इन्सान किस प्रकार एक निर्जीव मशीन की तरह, जैसे वह स्वय कुछ सोच न सकता हो, अकड-अकड कर चलने-फिरने के लिए तैयार हो जाता है।

म्यूनिख मे साधारण शिक्षा के लिए कोई प्रबन्ध नही था। थोडी-बहुत जो प्राइमरी पाठशालाएँ थी, उनकी व्यवस्था दो-एक धार्मिक सस्थाओ के आधीन थी। आइन्स्टाइन का परिवार यहूदी था, फिर भी उस परिवार के किसी भी व्यक्ति को धर्म में शुरू से ही अभिरुचि न थी। उनके निवास से एक कैथोलिक प्राथमिक स्कूल ही निकट पडता था, इसलिए आइन्स्टाइन को उसी मे भर्ती करा दिया गया। दस वष की अवस्था मे उन्हें एक स्कूल जिम्नेजियम मे दाखिल करा दिया गया कि वह विश्व-विद्यालय की उच्च शिक्षा की योग्यता प्राप्त कर सकें। स्कूल जीवन मे न उन्हे किसी प्रकार का सुख ही मिला और न सफलता ही। यहाँ पाठ को कण्ठस्थ करने की प्रथा थी। किसी विषय पर खुल कर विवेचन की कोई छूट नही थी जिससे तनिक विषयगत परिचय भी प्राप्त हो सके।

आइन्स्टाइन को जिम्नेजियम मे रहते हुए यहूदी धर्म की सर्वप्रथम दीक्षा मिली। उनको कैथोलिको की उदार प्रकृति के विषय मे कुछ आभास प्राथमिक स्कूल मे ही मिल चुका था। इस शिक्षा-दीक्षा का परिणाम यह जरूर हुआ कि धर्म की सार्वजनीन नीतिपरता अर्थात् चरित्र-प्रियता मे उनकी आस्था दृढ हो गई, लेकिन साथ ही उनके हृदय ने यह भी अनुभव किया कि सभी कर्मकाण्ड, चाहे वे किसी भी धर्म या सम्प्रदाय

हो, 'अन्धी जड़ता' के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इनको सम्भवतः बनाया ही इसलिए गया था कि मनुष्य स्वाधीनतापूर्वक चिन्तन-मनन करना छोड़ दे। जिम्नेजियम से स्नातक होकर आइन्स्टाइन ने अपने धर्म-सम्प्रदाय की सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया। वर्षों बाद ही वह अपनी यहूदियों की बिरादरी में मिले—उन दिनों जब कि हिटलर के अधीन नाजी अनुशासन में जर्मनों ने यहूदियों के बीज-नाश की जैसे सौगन्ध ही खा ली थी।

आइन्स्टाइन के इन्जीनियर चाचा के कारण बालक आइन्स्टाइन की गणित में रुचि उत्पन्न हो गई। उन्हीं ने बालक को सर्वप्रथम यह समझाया कि किस प्रकार एक प्रश्न के समाधान में बीजगणित के द्वारा समय बच सकता है और प्रश्न भी सरलता से हल हो जाता है। उन्होंने सब कुछ परिहास और विनोद में, बालक की परिहास-बुद्धि को जगाते हुए कहा, "देखो, विज्ञान कितना रोचक है! यह एक जानवर है, जिसका हम शिकार कर रहे हैं, पर वह बस में नहीं आ रहा, हम उसका थोड़ी देर के लिए, नाम रख देते हैं—'क्ष' और अपनी बन्दूक का नाम है 'य'। अब अपना शिकार प्रारम्भ करते हैं जब तक कि उसका 'क्षय' नहीं हो जाता—वह पकड़ में नहीं आ जाता।"

आइन्स्टाइन पर 'ज्यामिति' का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा। ज्यामिति के पढ़ने से वह बहुत प्रसन्न होते। कम शब्दों में तर्कपूर्ण ढंग से सब कुछ कह देना, प्रत्येक वाक्य के लिए प्रमाण और समर्थन की आवश्यकता तथा हर सिद्धि में युक्ति-क्रम की अटूट शृंखला और प्रत्येक प्रश्न को हल करने के लिए निजी चिन्तन का अवसर। आइन्स्टाइन ने स्वयं इस बात को माना

है कि दो घटनाएँ उनके लिए बचपन मे वरदान सिद्ध हुईं—एक तो उन्हें पाँच वर्ष की अवस्था मे किसी ने एक चुम्बकीय कुतुबनुमा लाकर दी और दूसरी बारह वर्ष की अवस्था में यूक्लिड की ज्यामिति से प्रथम परिचय हुआ। आइन्स्टाइन ने लिखा है—"स्कूल के उन दिनो मे यूक्लिड हाथ में आते ही यदि हम मे से किसी को ऐसा प्रतीत नही होता था कि मेरी दुनिया ही बदल गई है तो उसका मतलब हम यही समझते थे कि इस बेचारे को ईश्वर ने समीक्षा अथवा अन्वेषण की बुद्धि ही नही दी।"

आइन्स्टाइन जब १५ वर्ष के हुए तो उनके पिता के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह अपने पुराने बिजली के कामकाज को ठप्प कर दें। और फलस्वरूप परिवार म्यूनिख से उठकर मीलान (इटली) मे आ गया ताकि वहाँ कुछ कारोबार किया जा सके। एल्बर्ट कुछ समय तक डिप्लोमा प्राप्त करने के उद्देश्य से जिम्नेजियम मे ही रहे। लेकिन आइन्स्टाइन के लिए स्कूल का यह जीवन दिन-प्रतिदिन असह्य हो रहा था। गणित मे तो उनका ज्ञान अपने अन्य साथियो से बहुत बढा-चढा था, लेकिन अन्य विषयो मे वह कोरे थे। दूसरे, एक बात और हुई कि उनमें अपने शिक्षको के प्रति अंध-भक्ति नही थी। परिणाम यह हुआ कि उन्हें जिम्नेजियम से छुट्टी मिल गई और वह अपने पिता के पास इटली मे आ गये।

इटली मे रहते हुए आइन्स्टाइन ने निश्चय किया कि वह अपनी सारी जिन्दगी गणित तथा समीक्षात्मक भौतिकी के अध्ययन मे व्यतीत करेंगे। यह निश्चय कर उन्होंने ज्यूरिख (स्विट्ज़रलैण्ड) के प्रख्यात स्विस फेडरल पॉलीटेक्निक स्कूल में प्रवेश के

लिए परीक्षा दी पर असफल रहे। गणित मे पूरे अक मिले और भाषा एव प्राणिविज्ञान मे बहुत कम अक प्राप्त हुए। पॉली-टेक्निक के डायरेक्टर आइन्स्टाइन की गणित मे योग्यता पर मुग्ध हो गये और फिर उन्होने कुछ ऐसी व्यवस्था कर दी कि वह प्रवेशिका परीक्षाओ की इन आवश्यकताओ को स्विट्जरलैण्ड मे जाकर ही पूर्ण कर लें।

स्विट्जरलैण्ड पहुँचकर आइन्स्टाइन की प्रसन्नता की कोई सीमा न रही, क्योकि म्यूनिख के स्कूलो मे और यहाँ के पठन-पाठन मे बडा अन्तर था। यहाँ यदि विद्यार्थी स्वतन्त्र चिन्तन भी करे तो हर विषय पर शिक्षको का पूरा-पूरा सहयोग मिलता था। यह पहला अवसर था जब आइन्स्टाइन को स्कूल मे कुछ रुचि उत्पन्न हुई। पाठ्य-विधि पूर्ण कर उन्होने ज्यूरिख के फेडरल पॉलीटेक्निक स्कूल मे प्रवेश किया।

उन्होने ज्यूरिख मे रहते हुए ही दृढ सकल्प किया कि वह भौतिकी के अध्यापक बनेंगे और पाठ्य-विषयो का चयन भी उन्होने अपने इसी ध्येय की पूर्ति के अनुरूप ही किया। उन्होने यह भी महसूस किया कि वह स्विट्जरलैण्ड के नागरिक बन जायें। आइन्स्टाइन का ज्यूरिख मे जो समय व्यतीत हुआ, उसमे उन्हें बराबर पैसे का अभाव रहा, क्योकि उनके पिता को यहाँ नये कार्य मे सफलता नही मिल रही थी। प्रसन्नता की बात यह हुई कि एक सम्पन्न सम्बन्धी ने विश्वविद्यालय के द्वारा ही उनकी सहायता का प्रबन्ध करा दिया।

पढाई समाप्त करने के बाद आइन्स्टाइन ने बडी कोशिश की कि किसी तरह वह भौतिक विज्ञान के अध्यापक बन जायें,

पर उन्हें कही भी अध्यापक की नौकरी न मिल सकी। जीवन-निर्वाह के लिए कुछ-न-कुछ तो करना ही पडता है। बर्न मे स्विस पेटेण्ट आफिस मे पेटेण्टों के एक परीक्षक के रूप मे उन्होंने नौकरी कर ली।

आइन्स्टाइन ने १९०५ में इसी पेटण्ट आफिस मे नौकरी करते हुए 'विशिष्ट आपेक्षिता' की स्थापना की थी जिसका 'प्रत्यक्ष प्रकटीकरण ससार ने चालीस साल पश्चात् 'एटम बम के निर्माण में किया।

आइन्स्टाइन ने अपने एक पत्र मे लिखा था—"डियर मिस्टर प्रेसीडेण्ट, ई० फेर्मि और एल० जीलार्ड के कुछ नये अनुसन्धानो से मुझे अवगत कराया गया है। इन अनुसन्धानो की पाण्डुलिपि का अध्ययन करने पर मुझे विश्वास हो गया है निकट भविष्य मे ही वैज्ञानिक यूरेनियम को एक नये और महत्वपूर्ण शक्ति-स्रोत के रूप मे प्रयोग करने मे सफल हो जायेंगे। इस प्रकार का केवल एक ही बम यदि किसी बन्दरगाह पर फेंका गया तो वह उस बन्दरगाह के साथ-साथ आस पास के इलाके का भी सफाया कर देगा।" १९३९ की शिशिर मे यह पत्र प्रेसीडेण्ट फ्रेंकलिन डी० रूजवेल्ट को लिखा गया था। और फिर छ वर्ष पश्चात् ६ अगस्त १९४५ को इस प्रकार का केवल एक ही बम जापान के हीरोशिमा नामक नगर पर डाला गया, जिसके कारण लगभग ६,००० व्यक्ति मारे गये, १,००,००० घायल हुए और २,००,००० बेघर तथा बेसहारा हो गये। इस एटम बम ने नगर के ६०० मोहल्लों को मिट्टी मे मिला दिया। कुछ दिन पश्चात् इसी प्रकार का एक बम नागासाकी पर डाला गया। इस भयकर

विनाश को देख जापानी सरकार ने घुटने टेक दिए और द्वितीय विश्वयुद्ध का अन्त हो गया।

आइन्स्टाइन ने १९०५ में ही वह सिद्धान्त खोज लिया था जो एटम बम के मूल मे काम करता है। किसी भी द्रव्य को शक्ति मे और शक्ति को द्रव्य मे परिवर्तित किया जा सकता है। विज्ञान का प्राचीन सिद्धान्त था कि द्रव्य का स्वत न निर्माण किया जा सकता है और न विनाश। आइन्स्टाइन के सिद्धान्त को सूत्र रूप मे इस प्रकार प्रकट कर सकते हैं

$$श = द + प्र^2$$

अर्थात् इस सूत्र द्वारा विसर्जित शक्ति (श) का परिणाम बराबर है।

=द्रव्य (द्र) गुणा 'प्रकाश की गति' (प्र) के वर्ग से गुणित फल।

अब क्योंकि प्रकाश की गति स्वय एक अपरिमेय-सी वस्तु है—१,८६,००० मील प्रति सेकण्ड यानी लगभग ५९,००,००,००,००० फुट प्रति मिनट—तो थोडी मात्रा के भी द्रव्य से विकीर्ण शक्ति बहुत ही अधिक निर्माण या सहार कर सकती है। वास्तव मे अगर एक पौण्ड कोयले को पूर्णतया शक्ति मे परिवर्तित करें, तो उसके फलस्वरूप तीस हजार खरब फुट पौण्ड से भी अधिक परिमाण की शक्ति पैदा होगी। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी भी द्रव्य के १० पौण्ड से इतनी अधिक विद्युत पैदा की जा सकती है जो विश्वभर की एक महीने की आवश्यकता को सरलता से पूर्ण कर दे।

इससे पहले भौतिकी शास्त्र का सारा ढाँचा न्यूटन के दो

सौ साल पुराने गति के नियमो पर आधारित था और भौतिकी के अधिकांश प्रश्नो का हल इन नियमो द्वारा निकल आता था। लेकिन अब कुछ ऐसी उलझनें सामने आईं, जहाँ न्यूटन के सिद्धान्त से काम नही चलता। उदाहरणार्थ, वायुयान से यदि एक राकेट उडान की दिशा मे ही फेंका जाये, तो स्वभावतः राकेट की एक तो अपनी गति होगी ही, और साथ ही यान की गति भी इसकी इस गति मे सम्मिलित हो जायेगी।

यदि न्यूटन के नियमो की प्रकाश की गति मे भी स्थापना की जाये तो प्रकाश की गति स्वभावत तब अधिक ही होती जायेगी, जबकि प्रकाश-स्रोत भी देखने वाले की ओर स्वय बढ़ता आ रहा हो और इसके विपरीत जब यही स्रोत अन्वीक्षक से दूर हट रहा हो तो उसकी गति अपेक्षाकृत कुछ कम होती जायेगी। लेकिन ए० ए० मिचेलसन ने कुछ परीक्षणो द्वारा प्रमाणित कर दिया है कि प्रकाश की गति न्यूटन के गति सम्बन्धी नियमो का अनुसरण नही करती।

आइन्स्टाइन ने मिचेलसन के इन परिणामो का अध्ययन किया और कुछ मौलिक चिन्तन के बाद वह एक नई स्थापना पर पहुँचे कि प्रकाश का स्रोत कुछ भी क्यो न हो और देखने वाला कही भी क्यो न खडा हो, चाहे जिस दिशा मे क्यो न चल रहा हो, प्रकाश की गति सभी ओर एक सी ही होगी। इस स्थापना का तात्पर्य यह हुआ कि प्रकाश की गति मे किसी भी अवस्था मे कुछ परिवतन नही आ सकता।

आइन्स्टाइन की स्थापना मे यद्यपि कुछ बडा तथ्य या असामान्यता नही दीख पडती, लेकिन आइन्स्टाइन की प्रतिभा की यह निजी विशेषता ही रही है कि वह अपनी स्थापनाओं को

सदा कुछ अद्भुत, अविश्वसनीय, किन्तु सत्य कल्पनाओ मे व्यक्त करने मे बहुधा सफल रहे हैं। इसका एक उदाहरण देखिए— यदि घडी स्वय (उसकी सुइयाँ ही नही) चलने लग जाए तो उसकी सुइयाँ सुस्त पड जायेंगी। इस वक्तव्य पर प्रयोग किये जा चुके हैं और प्रत्येक बार आइन्स्टाइन की 'कल्पना' ही सत्य सिद्ध हुई है। अणु-चालित अन्तरिक्ष विमानो मे मनुष्य के लिए सुदूर ग्रहो की यात्रा का स्वप्न जब सम्भव हो जायेगा, तब हमारा अन्तरिक्ष-यात्री अन्तरिक्ष-विमान की घडी के अनुसार वापस पृथ्वी पर लौटने पर देखेगा कि उसका अपना ही पुत्र उससे (पिता से) बीस-तीस साल अधिक बूढा हो चुका है।

आइन्स्टाइन का नियम ही पहली बार सूर्य की शक्ति के 'स्रोत' कुछ व्याख्या कर सका कि सूय यदि अपने ही भीतरी ईंधन द्वारा हमे प्रकाश और गरमी दे रहा होता तो कभी का ठण्डा पड चुका होता, बुझ चुका होता। वही सूर्य इतने वर्षों से ताप और प्रकाश का विकिरण करता आ रहा है और अरबो-खरबो वर्ष आगे भी/इसी प्रकार करता रहेगा।

आइन्स्टाइन १६०६ मे ज्यूरिख के विश्वविद्यालय मे विशेष प्राध्यापक के पद पर थे। वहाँ से वह प्राग के जर्मनी विश्व-विद्यालय मे आ गये। कुछ समय बाद फिर ज्यूरिख चले गये और अन्त मे वहाँ से बर्लिन कैसर विल्हेम इन्स्टीट्यूट मे पहुँच गये।

१६३३ मे नाजियो ने जर्मन सरकार पर अधिकार कर लिया। उन दिनो आइन्स्टाइन बर्लिन विश्वविद्यालय के प्रोफेसर थे और इगलैण्ड तथा अमेरिका मे दो व्याख्यानमाला देने के

लिए गये हुए थे। अत्याचारी नाजियों ने उनकी अनुपस्थिति मे ही उन्हें उनकी सम्पत्ति से ही नही, विश्वविद्यालय के प्राध्यापक पद से एव जर्मन गणराज्य द्वारा प्रदत्त 'समादृत नागरिक' की स्वाधीनता से भी वंचित कर दिया। वह अमरीका मे प्रिस्टन की इस्टीट्यूट फॉर एडवास स्टडीज' मे गणित के विद्यालय के निदेशक बनकर आ गये। उन्होने यहां आकर इसराइल मे यहूदियों के लिए एक नया राज्य स्थापित करने का समर्थन किया और 'एक विश्व सरकार' के विचार को भी जनता के सामने रखा। लेकिन जब उन्हें इसराइल का राष्ट्रपति होने के लिए आमन्त्रित किया गया तो उन्होने इसे अस्वीकार कर दिया और कहा—"विज्ञान की समस्याओ से तो मेरा कुछ परिचय है, किन्तु मानव समस्याओ से जूझने की न मुझ में योग्यता है और न अनुभव ही।"

आइन्स्टाइन को उनके विशिष्ट अनुसन्धानो—'फोरन्ज' तथा 'क्वाण्टम सिद्धान्त' के लिए नोबल पुरस्कार प्रदान कर उनका सम्मान किया गया।

१६५० में उनका नया सिद्धान्त 'अविभाजित क्षेत्र' (यूनिफाइड फील्ड) प्रकाशित हुआ, जिसके गणित विषयक सूत्रों में २४ पृष्ठो में गुरुत्वाकर्षण तथा विद्युत चुम्बक के क्षेत्रों को एक ही शृ खला से सम्बन्धित किया है।

एटम बम के आविष्कार पर आइन्स्टाइन को बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने इस पर कहा था—"मेरा स्वप्न था कि एटम को प्रयोग मानव-जाति की सेवा में किया जायेगा, लेकिन इसका उपयोग तो विश्व-सहारक के रूप में हो रहा है।"

१८ अप्रैल, १९५५ को आइन्स्टाइन की मृत्यु हो गई, तब भी वह सृष्टि को चलाने वाले अन्तर्यामी नियमो को गणित की सरलता मे सूत्रित करने में लगे थ। उनका कहना था—"सृष्टि के मूल मे विद्यमान महाशक्ति कोई जुआरिन नहीं है।"

मेरी क्यूरी



"भौतिक विज्ञानवेत्ता अपनी गवेषणाओं को सदैव प्रकाशित करते आए हैं। हमारी खोज का यदि कोई व्यापारिक लाभ है तो वह केवल एक संयोग की बात है। हमें इससे लाभ नहीं उठाना चाहिए। और रेडियम तो रोग के इलाज में काम आ रहा है, इससे ही हम लाभ कैसे उठा सकते हैं।"

—मेरी क्यूरी

मदाम क्यूरी नाम से विश्वविख्यात वैज्ञानिक महिला का बचपन का नाम मार्जा स्क्लोदोव्स्का था। इनका जन्म पोलैण्ड के वारसा नगर में प्रोफेसर स्क्लोदोव्स्का के घर ७ नवम्बर, १८६७ को हुआ था। 'मार्जा' शब्द अंग्रेजी व फ्रेंच 'मेरी' का पोलिश रूप है।

इनके पिता स्क्लोदोव्स्का वारसा हाई स्कूल में गणित और विज्ञान के प्रोफेसर थे और माँ मानी हुई प्यानो-वादिका। मार्जा दस वर्ष की थी कि उनकी माँ का देहान्त हो गया, उन्हें तपेदिक हो गया था।

उन दिनों पोलैण्ड पर रूस का अधिकार था। मार्जा के

पिता ने खुलकर पोलैण्ड की स्वतन्त्रता का समर्थन किया था, इसलिए उन्हें नौकरी से निकाल दिया गया। बाद मे उन्होंने अपनी जीविका चलाने के लिए एक बोर्डिंग स्कूल खोला और परिवार की जैसे-तैसे गुजर होने लगी।

सन् १८८३ मे हाई स्कूल परीक्षा उत्तीर्ण करने पर मार्जा को एक स्वर्ण पदक मिला। आगे पढने के लिए पैसे की आवश्यकता थी, लेकिन परिवार की दशा को देखते हुए मार्जा ने अपनी बडी बहन ब्रोनिया से कहा, "जब तक तुम पढती रहोगी मैं नौकरी करके तुम्हारी सहायता करूँगी और जब तुम्हारी पढाई समाप्त हो जाये तो तुम मेरी सहायता करना।"

जिस रूसी परिवार मे मार्जा अध्यापिका की नौकरी करती थी, उसी परिवार के एक नवयुवक, जो वारसा विश्वविद्यालय मे पढता था, के प्रेम मे असफल होने पर १७ वर्षीया मार्जा ने अपनी चचेरी बहिन को लिखा था "इस दुखमय संसार से विदा लेने की इच्छा होती है। मेरे न रहने से संसार की बहुत कम क्षति होगी।"

लेकिन मार्जा पढाने का काम करती रही और [illegible] अपनी बहन को नियमित रूप से सोर्बोन को [illegible] रही। फिर ब्रोनिया की बारी आई क्योंकि अब वह डाक्टर बन चुकी थी और पेरिस मे ही एक [illegible] डाक्टर के साथ विवाह भी कर लिया था।

अगली पंक्ति में बैठती, बड़ी गुमसुम रहती और लेक्चर समाप्त होते ही वहाँ से खिसक जाती।

चार वर्ष तक उन्होंने एकाकी जीवन बिताया। वह पेरिस के लैटिन क्वार्टर में छठी मंजिल के एक कमरे में रहती थी, जिसमें न प्रकाश आता था और न गरम पानी की सुविधा थी। डबलरोटी, मक्खन और चाय पर पूरा दिन काट देती थीं। मांस-अण्डे तो सम्भवतः वह कभी प्राप्त न कर सकी थी।

ब्रोनिया के पति को जब यह मालूम हुआ कि वह भूखी रहती है, तो वह हठपूर्वक उन्हें अपने यहाँ लिवा लाये। लेकिन कुछ दिनों बाद ही वह अपने स्थान पर ही लौट गईं।

भौतिक शास्त्र, गणित, काव्य, संगीत और खगोल शास्त्र आदि का मेरी ने गहन अध्ययन किया। सन् १८९३ में वह भौतिकी में एम० ए० में प्रथम रहीं, फिर अगले साल गणित की एम० ए० में द्वितीय। इस समय मेरी की अवस्था २७ वर्ष की थी किन्तु वह घर की दुःखद स्मृतियाँ अभी भी अपने हृदय से न निकाल सकी थी। वह सुन्दर शुभ्रवर्ण और इकहरे शरीर की और एकान्तप्रिय थी।

पियरे क्यूरी की उस समय पेरिस में खूब चर्चा थी। यह ३५ वर्षीय युवक विद्युत् सिद्धान्त पर शोध करने के कारण बहुत ख्याति अर्जित कर चुके थे।

सन् १८९४ में प्रोफेसर कोवाल्स्की के घर ही पियरे और मेरी का प्रथम मिलन हुआ। कोवाल्स्की एक पोलिश वैज्ञानिक थे और उन दिनों पेरिस में आये हुए थे। विज्ञान पर दोनों की बातचीत हुई और वे पहली मुलाकात में ही एक-दूसरे के काफी निकट आ गये। मेरी ने शुत्सेनबेर्गर के यहाँ काम करने की

अनुमति से ली और पियरे के साथ ही टेबल पर अपने प्रयोगो में खो गई। कुछ दिनो बाद पियरे ने मेरी से विवाह का प्रस्ताव किया। दस महीने तक वह उत्तर की प्रतीक्षा करते रहे क्योंकि मेरी का एक फ्रांसीसी से विवाह करने का अर्थ था, अपने देश और परिवार को सदैव के लिए छोड देना। मेरी समझ नही पा रही थी कि क्या करें। अन्त मे खूब सोच-विचार लेने के बाद मेरी विवाह के लिए सहमत हो गई और मदाम क्यूरी (मैडम का फ्रेंच रूप) बन गई।—

क्यूरी दम्पति ने पेरिस मे एक साधारण फ्लैट ले लिया। एक कमरे में दो कुरसियाँ, एक लम्बी मेज और मेज पर विज्ञान की ढेरो पुस्तकें, एक लैम्प और फूलो का गुच्छा—बस यही उनका अध्ययन कक्ष था।

विवाह के बाद क्यूरी ने साइकिल पर फ्रांस-भ्रमण किया और साइकिल यात्रा से लौटकर कुछ समय बाद उन्होंने एक सुन्दर बालिका को जन्म दिया। वह अब बहुत व्यस्त रहने लगीं —घर का काम देखती, बच्ची को सम्भालती और प्रयोगशाला मे भी काम करती।

सन् १८९७ मे मेरी ने फेलोशिप प्राप्त की। अब उन्हे डाक्टर की उपाधि के लिए तैयारी करनी थी और इसके लिए नये विषय का चुनाव करना था।

क्यूरी दम्पति ने बेकेरल किरणो को अपने शोध विषय के लिए चुना और वे काम मे जुट गये।

उन दिनो इन खोजो से वैज्ञानिको को ससार के चारो ओर होने वाली रेडियो गति विधि का पता चला था और यह भी

ज्ञात हो गया था कि कुछ पदार्थों मे, जैसे यूरेनियम और सूर्य की किरणो मे, रेडियम-शक्ति होती है।

क्यूरी दम्पति भी उत्साही वैज्ञानिक थे और इसी शक्ति की खोज मे वे निरन्तर प्रयत्नशील थे। आखिर एक दिन मेरी क्यूरी ने इस शक्ति का रहस्य पा लिया।

ये पति-पत्नी पिच ब्लैण्ड नाम के काले और कठोर एक पदार्थ पर प्रयोग कर रहे थे। सन् १८९८ मे मेरी क्यूरी ने इस पदार्थ के टुकडे करते हुए, इसके मूल तत्वो को अलग-अलग करते हुए एक तत्व की खोज की, जिसका नाम उन्होने अपने हो प्रिय देश की स्मृति मे पोलोनियम रखा और एक दूसरे तत्व का नाम रेडियम रखा। रेडियम मे सर्वाधिक रेडियो शक्ति होती है। बैकेरल ने यूरेनियम की खोज की थी, परन्तु मेरी क्यूरी द्वारा खोजे गये पोलोनियम और रेडियम तत्त्वो मे यूरेनियम से अधिक रेडियो शक्ति थी।

अभी तक वैज्ञानिक यह पता नही लगा पाये हैं कि बीमारी के क्षेत्र मे रेडियम द्वारा मनुष्य को कितनी सहायता प्राप्त हो सकती है। कैंसर जैसी लाइलाज बीमारियों पर उसका प्रयोग पूर्ण सफल रहा है। टाइफस, हैजा जैसे अनेक भयकर रोगो के कृमि रेडियम द्वारा नष्ट किये जा सकते हैं।

रेडियम वास्तव मे एक अद्भुत तत्त्व है। यह यूरेनियम से दस लाख गुणा रेडियो-सक्रिय होता है। फोटो फिल्म यदि काले कागज मे भी हो तो भी रेडियम की किरणें उसे पार कर जाती हैं।

रेडियम गैसो के 'अणुओं' को आयोनाइज करता है, अर्थात् गैसों द्वारा विद्युत्-प्रवाह के लिए सहायता करता है।

इस खोज पर क्यूरी दम्पति को तरह-तरह के प्रलोभन दिये गये। पियरे ने मेरी के सम्मुख प्रस्ताव रखा, "हम अपने को रेडियम का मालिक मानकर इस विधि को पेटेण्ट करा सकते हैं।" पर मेरी कुछ देर सोचती रही, फिर बोली, "यह असम्भव है ! ऐसा करना विज्ञान-मन्दिर को अपवित्र करना है।" उन्होंने समझाया—"भौतिक विज्ञानवेत्ता अपनी गवेषणाओ को सदैव प्रकाशित करते आये हैं। हमारी खोज का यदि कोई व्यापारिक लाभ है तो वह केवल एक सयोग की बात है। हमे इससे लाभ नही उठाना चाहिए। और रेडियम तो रोग के इलाज मे काम आ रहा है, इससे हो हम लाभ कैसे उठा सकते हैं !"

इस अनुसन्धान के लिए जो सघर्ष क्यूरी दम्पति को करना पडा, वह वैज्ञानिको के लिए अनुकरणीय है। कठिन परिश्रम के कारण मेरी का स्वास्थ्य गिर गया, और अनेक अवसरो पर जब उनमे प्रयोग करने की शक्ति न रहती तो विवश हो वह आराम करने लगती। मेरी को उनके पति पियरे ने अनेक बार इस कठिन कार्य को छोड देने का परामश भी दिया, लेकिन मेरी तो अपनी धुन मे मस्त थीं, कोई भी बाधा उनके रास्ते से उन्हें विचलित न कर सकी।

पिच ब्लैण्ड पदार्थ महँगा था और उसे प्राप्त करने के लिए धन की आवश्यकता थी। ऑस्ट्रिया का सम्राट् क्यूरी दम्पत्ति पर दयालु था और एक बार उसने प्रयोग के लिए एक टन यह महँगी धातु भेजी। ये प्रयोग भी खतरनाक थे। उनमें हर समय जलने का भय रहता था। पदार्थ मे से रेडियम निकालने में बुद्धि और निर्णय लेने की क्षमता की आवश्यकता पडती है। इसके साथ-साथ अपेक्षित परिश्रम और सहिष्णुता का अनुमान इस

तथ्य से लगाया जा सकता है कि एक टन पिच ब्लेण्ड में रेडियम निकालने के लिए पचास टन पानी और पाँच-छ टन अन्य द्रव्यो का प्रयोग करना पडता है। यदि इसमें सफलता मिली तो केवल छ ग्रेन अर्थात् साढे तीन रत्ती ही रेडियम प्राप्त होता है।

रेडियम के जनक पियरे और मेरी ससार में प्रसिद्ध हो गये। लन्दन की 'रायल सोसाइटी' ने उन्हें भाषण देने के लिए आमन्त्रित किया और प्रसिद्ध 'डेवी मेडल' देकर उनका सम्मान किया।

क्यूरी दम्पति ने अपने वैज्ञानिक अनुसन्धान कार्य में लगे रहने पर भी अपने घर की कभी उपेक्षा नहीं की। मेरी को सन् १९०४ मे दूसरी पुत्री को जन्म देने का गौरव मिला। वे सदैव उन दोनो बच्चो का ख्याल रखते थे। प्राय जब मेरी खाना पकाया करती, उस समय पियरे बच्चो की देखभाल और घर की सफाई करते। पति-पत्नी एक-दूसरे से अत्यधिक प्रेम करते थे और दोनो ने अपने वैज्ञानिक शोध-कार्य को अपना साझे का काम बना लिया था। रेडियम की खोज के समय मेरी की अवस्था ३२ वर्ष थी।

१० दिसम्बर सन् १९०३ को स्वीडन की साइस अकादमी ने क्यूरी के लिए 'नोबल पुरस्कार' की घोषणा की। हेनरी बैकेरेल भी इस पुरस्कार में भागीदार थे।

सोर्बोन विश्वविद्यालय ने अपने पुराने छात्र और अध्यापक पियरे के सम्मान में एक नया विभाग खोला, जिसका अध्यक्ष पद भी उन्हें ही दिया गया। मेरी अपने पति की मुख्य सहायिका नियुक्ति की गईं।

सन् १९०४ की ग्रीष्म में मेरी ने लिखा था—"हमेशा भीड लगी रहती है; लोग हमारे काम मे बाधा पहुँचा रहे हैं। अब मैंने निश्चय कर लिया है कि किसी भी आगन्तुक को इण्टरव्यू नही दूगी। लेकिन फिर भी वे मुझे परेशान करते हैं। सम्मान और प्रसिद्धि से हमारा जीवन अव्यवस्थित हो गया है। हमारा शान्त और व्यस्त जीवन एकदम चौपट हो गया है।" एक पत्र-कार को उन्होंने कहा था—"लोगो के बारे मे जिज्ञासु कम रहो, जिज्ञासु केवल उनके विचारो के बारे मे रहो।"

१४ अप्रैल, १९०६ को पियरे ने लिखा था—"मदाम और मैं साथ-साथ खोज कार्य मे जुटे हुए हैं।" ये शब्द उन्होने अपनी मृत्यु के पाँच दिन पहले ही लिखे थे। १९ अप्रैल, १९०६ को वह साइंस फैकल्टी के प्रोफेसरो द्वारा दिये गये एक भोज से लौट रहे थे। वर्षा हो रही थी। सडक पार करते हुए घोडाबग्घी ने उन्हे गिरा दिया और दूसरी ओर से आता हुआ एक ट्रक उन पर से गुजर गया। घटना-स्थल पर ही उनकी मृत्यु हो गयी।

मेरी को सूचना मिली तो वह बहुत देर तक चुप रही। फिर उनके होठ हिले—"पियरे मर गया, मेरा पियरे मर गया! सच-मुच मर गया!!"

पियरे की मृत्यु के बाद सरकार ने मेरी को पेंशन देनी चाही, लेकिन उन्होंने पेंशन लेने से इन्कार कर दिया।

१३ मई, १९०६ को अपनी पुरानी परम्परा तोडकर साइंस फैकल्टी की कौंसिल ने पियरे के स्थान पर भौतिक शास्त्र के प्रोफेसर के लिए श्रीमती क्यूरी को चुना। इससे चारो तरफ एक तहलका मच गया।

कुछ वैज्ञानिक इस बात को सहन नही कर सके—"एक

औरत, और प्रोफेसर !'" उनका कहना था, "सारा काम पियर का था, मेरी ने तो असिस्टेण्ट की तरह कुछ मदद ही की थी, बस !"

सन् १६१० मे उन्हें रेडियम को शुद्ध रूप में प्राप्त करने मे सफलता मिली। पिघले हुए रेडियम क्लोराइट (रेडियम का एक लवण) मे से विद्युत् सचरित करते हुए उन्होंने नैगेटिव इलेक्ट्रोड पर एक परत सी देखी। उन्होने पारे को उबाला और शुद्ध रेडियम प्राप्त किया।

मेरी को इस खोज पर सन् १६११ मे दोबारा 'नोबल पुरस्कार' मिला। इससे पहले किसी को भी यह पुरस्कार दो बार नही मिला था।

विश्वविद्यालय ने उनके लिए रेडियम इस्टीट्यूट की स्थापना की। मेरी क्यूरी ने देश की राजधानी वारसा मे भी एक रेडियम इस्टीट्यूट खुलवाया।

प्रथम महायुद्ध मे स्वय उनकी देख भाल मे रोगियो पर रेडियम के परीक्षण किये गये और उनकी सेवा के सम्मान मे अमरीका के तत्कालीन प्रेसीडेण्ट हार्डिंग ने उन्हें एक ग्राम रेडियम और कुछ धन भेंट किया।

सन् १६२६ मे फ्रांस की सरकार ने रेडियम बनाने का कारखाना और एक अनुसन्धानशाला के लिए मेरी को १५ लाख फ्रैंक देने का निश्चय किया।

पति की मृत्यु के बाद मेरी के जीवन के दो उद्देश्य रह गये थे—अपने पति के काम को आगे बढाना और अपनी बच्चियो को पालना। उनके लिए अति प्रसन्नता की बात यह थी कि उनकी पुत्री भी उनके काम में आ जुटी जो अपनी माँ से भी

एक कदम आगे बढने के प्रयास मे थी। १९३५ मे उनकी पुत्री श्रीमती क्यूरी जूलियट को अपने पति के साझे मे रसायन शास्त्र के लिए नोबल पुरस्कार मिला। ये दोनो साधारण तत्त्वो मे रेडियम शक्ति सचालित करने मे सफल हुए थे। लेकिन मेरी क्यूरी यह शुभ घडी न देख सकी।

युद्ध काल मे चार वर्षों मे घायलो के उपचार के लिए होने वाले रेडियम के निरन्तर सम्पर्क ने घातक प्रभाव डाला और उन्हें बुखार आने लगा। ४ जुलाई, १९३४ को एक सेनेटोरियम मे उनकी मृत्यु हो गई। उनकी मृत्यु से एक दिन पहले तक ससार को उनकी दशा के बारे मे कुछ भी पता न था।

मदाम क्यूरी ने रेडियम का अनुसधान किया, वही रेडियम उनकी मौत का कारण बना। अनके प्रमुख अवयवो को रेडियम की किरणो ने निष्क्रिय बना दिया था।

जगदीशचन्द्र बसु



"पेड़-पौधों और वनस्पति में भी जीवन है। उनकी प्रत्येक क्रिया—खाने-पीने, जगने-सोने, सर्दी-गरमी की अनुभूति और वंश उत्पत्ति आदि की इच्छा इन्सान के ही समान है।'

—जगदीशचन्द्र बसु

जगदीशचन्द्र बसु की गणना विश्व के महान् वैज्ञानिकों में की जाती है। वनस्पति शास्त्र तो उनका बहुत ऋणी है। इनका जन्म बंगाल प्रान्त में ढाका जिले के विक्रमपुर नामक ग्राम के पास राढीखाल गाँव में ३० नवम्बर, १८५८ को हुआ था। उनके पिता भगवानचन्द्र बसु फरीदपुर में एक उच्च पदाधिकारी थे। वह बड़े विचारशील व्यक्ति थे। पिता से साहस, दृढ संकल्प तथा सहानुभूति और माता से भारतीय संस्कृति के प्रति प्रेम के गुणों को ग्रहण कर बालक बसु अपने भविष्य का निर्माण करने लगे। उनके पिता ने उनकी शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया था। अनेक अँग्रेजी स्कूलों के होते हुए भी उन्होंने अपने पुत्र को प्रारम्भिक शिक्षा एक ग्रामीण पाठशाला में दिलवाई। वहाँ वह

सीधे-सादे ग्रामीण बालकों के साथ अपनी मातृभाषा बंगला का अध्ययन परिश्रमपूर्वक बड़े ही मनोयोग के साथ करने लगे। गाँव में उन्हें पशु-पक्षी तथा पेड़-पौधों के सम्पर्क में रहने का अवसर मिला। बालक जगदीश इन वस्तुओं को ध्यान से देखते और इनके विषय में अनेक बातें सोचा करते। इनकी इसी प्रवृत्ति ने आगे चलकर इन्हें एक महान् वैज्ञानिक बना दिया।

आरम्भिक शिक्षा के बाद बालक जगदीश कलकत्ता के सेंट जेवियर स्कूल में दाखिल हुए। वहाँ से उन्होंने मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण की। तदुपरान्त सेंट जेवियर कालिज से ग्रेजुएट होकर आगे विज्ञान का अध्ययन करने के लिए इंगलैण्ड चले गये। वहाँ वह मैडिकल कालिज में दाखिल हो गये। इस कालिज में चीड़-फाड़ का कार्य करना पड़ता था, जो उनकी रुचि के प्रतिकूल था, इसलिए उन्होंने विशुद्ध विज्ञान पढ़ने का निश्चय किया। लन्दन के क्राइस्ट कालिज से १८८४ में बी० ए० में इतने अच्छे अंकों से उत्तीर्ण हुए कि उन्हें विज्ञान में राष्ट्रीय छात्रवृत्ति प्राप्त हुई। १८८५ में लन्दन विश्वविद्यालय से बी० एस-सी० की परीक्षा उत्तीर्ण कर स्वदेश लौट आये।

लन्दन से लौटने पर श्री बसु की नियुक्ति कलकत्ता के प्रेसीडेंसी कालिज में भौतिक शास्त्र के प्राध्यापक के रूप में हुई। उन दिनों के शिक्षा के क्षेत्र में भी अँग्रेज और भारतीय प्राध्यापक में भेदभावपूर्ण व्यवहार किया जाता था। अँग्रेज प्राध्यापक की तुलना में भारतीय प्राध्यापक को दो-तिहाई वेतन मिलता था। उनकी नियुक्ति के समय उसमें और भी अधिक कटौती कर केवल

आधा कर दिया गया। जगदीशचन्द्र बसु को अंग्रेज शासकों का यह पक्षपातपूर्ण व्यवहार बहुत अखरा और इसके विरोध मे उन्होंने वेतन लेने से इन्कार कर दिया। वह निरन्तर तीन वर्ष तक बिना वेतन लिये अपना काम करते रहे। परन्तु अध्यापन के काम में वह किसी से पीछे न रहे। वेतन स्वीकार करने के लिए उनकी शर्त यह थी कि इस अन्यायपूर्ण व्यवस्था तथा कानून को रद्द कर दिया जाये। बिना किसी प्रकार की आय के तीन वर्ष उन्होंने बडे सकट मे व्यतीत किये, पर अपने स्वाभिमान पर तनिक भी आंच न आने दी। अपने स्वाभिमान के साथ-साथ यह उनके लिए स्वदेशाभिमान का प्रश्न भी बन गया था। तीन वर्ष की लम्बी साधना के पश्चात् श्री बसु की विजय हुई। उनको तीन वर्ष का पूरा वेतन एक साथ दिया गया और उनकी नियुक्ति भी स्थायी कर दी गई।

१८६५ मे उन्होने अनेक गवेषणापूर्ण लेख लिखे। इनमें से विद्युत सम्बन्धी दो लेख इगलैण्ड के एक वैज्ञानिक पत्र मे प्रकाशित हुए। इन लेखो के प्रकाशित होने से उन्हे बडी ख्याति मिली। लन्दन की रायल सोसाइटी के मुखपत्र मे अपने लेख के छपने का गौरव प्राप्त करने वाले वह प्रथम भारतीय थे। विद्युत् के सम्बन्ध मे लिखा गया यह लेख इतना अधिक सराहा गया कि उन्हें उसके विषय मे विशेष अनुसन्धान करने के लिए सोसाइटी की ओर से विशेष छात्रवृति दी गई। दो वर्ष पश्चात् बगाल सरकार की ओर से भी अनुसन्धान कार्य के लिए विशेष सहायता प्रदान की गई।

जगदीशचन्द्र बसु मे एक बहुत बडा गुण यह था कि वह

लकीर के फकीर न थे। उनकी विचारधारा पूर्णत, स्वतन्त्र थी और नये अनुसन्धानो द्वारा भारत का गौरव बढ़ाने की प्रबल अभिलाषा उनके मन में थी। इसके लिए प्रयोगशाला की आवश्यकता थी। कालिज की प्रयोगशाला मे अनुसन्धानो के लिए उचित प्रबन्ध न था, इसलिए बसु अपने घर पर ही एक निजी प्रयोगशाला बनाई। इस पर जो खर्च आया, वह उनकी सामर्थ्य से बाहर था, फिर भी मित्रो के सहयोग से वह इस प्रयोगशाला को खोलने मे सफल हुए।

१८९६ मे उन्होंने अपने एक नये अनुसन्धान का विवरण प्रकाशित किया। उन्होने अपने अनुसन्धान कार्य का प्रतिवेदन रायल सोसाइटी लन्दन को भेजा, जिसको पढकर बडा आश्चर्य प्रकट किया गया। लन्दन विश्वविद्यालय ने इसके लिए उन्हे डी० एस-सी० की उपाधि से सम्मानित किया।

दूसरा अनुसन्धान उन्होने जो किया, वह था—बेतार के तार का। इटली के डाक्टर मार्कोनी और एक अमरीकन भी इस सम्बन्ध मे खोज करने मे लगे हुए थे। १८९८ मे जगदीशचन्द्र बसु ने बगाल के गवर्नर के सामने इसका सफल प्रदर्शन किया। उन्होंने बिना तार के ही दूर पर पडे बोझ को हिला दिया था और घण्टी को बजाकर दिखाया था। लेकिन 'बेतार के तार' के आविष्कार का श्रेय जगदीशचन्द्र बसु को न मिलकर इटली के प्रोफेसर मार्कोनी को मिला। देश की गुलामी का हमे यह मूल्य चुकाना पडा। बाद मे मार्कोनी ने यही आविष्कार करके इसे अपने नाम से रजिस्टर्ड करा लिया।

जगदीशचन्द्र बसु ने एक बिलकुल नया अनुसधान किया—

वह था वनस्पति और पशुओ को एक समान ही प्राणधारी सिद्ध करना। हमारे देश मे इस बात को छोटे-बडे सभी जानते हैं कि वृक्षो मे भी मनुष्यों और पशुओ की भांति जीव रहता है। लेकिन वैज्ञानिको को यह बात बडी अटपटी जान पडती थी। जगदीशचन्द्र ने यही विषय लिया और उन्होने सत्य को ढूंढ निकाला तथा पाश्चात्य वैज्ञानिको के वनस्पति-विज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्तो को असत्य सिद्ध करके अपने सिद्धान्त की स्थापना की। उन्होंने प्रयोग द्वारा सिद्ध करके बताया कि "पेड पौधो और वनस्पति में भी जीवन है। उनकी प्रत्येक क्रिया—खाने-पीने, जगने-सोने, सर्दी-गर्मी की अनुभूति और वश-उत्पत्ति आदि की इच्छा इन्सान के ही समान है।"

श्री बसु ने स्वत ही ऐसे यन्त्रों का निर्माण तथा आविष्कार भी किया था, जो वनस्पति में होनेवाली क्रिया अथवा प्रतिक्रिया को स्पष्ट रूप से अकित कर लेते थे। उनमे एक यन्त्र ऐसा था जो सुई से शीशे पर हल्की-से-हल्की क्रिया को भी अकित कर देता था। पौधो द्वारा उद्जन वायु सेवन करने की प्रक्रिया का भी अध्ययन उन यन्त्रो द्वारा किया जा सकता था। पौधे पर सूर्य के ताप के कम-ज्यादा पडने के अनुसार धीमी अथवा जोर की आवाज से बजने वाली एक घण्टी का भी उन्होंने आविष्कार किया था। पौधो के पानी मे उत्तेजक पदार्थ डालने को जो प्रतिक्रिया होती थी, उसका परिचय भी उस घण्टी से मिल जाता था। अन्य यन्त्रो से पौधों पर [illegible]-वाली क्लोरोफार्म की प्रतिक्रिया का भी अध्ययन किया जा सकता था और वह प्रतिक्रिया

वैसी ही होती थी जैसी कि जीवधारी प्राणियों अथवा मनुष्यों पर होती है। खिला हुआ फूल उससे मुरझा जाता था।

१६०२ में पेरिस में विज्ञान काँग्रेस का अधिवेशन हुआ भारत की ओर से जगदीशचन्द्र बसु को वहाँ भेजा गया। उनके भाषण सुनकर श्रोता बड़े प्रभावित हुए। इंगलैण्ड की 'रायल सोसाइटी' ने भी उन्हें अपने यहाँ भाषण देने के लिए निमन्त्रित किया। इस भाषण में जगदीशचन्द्र बसु ने वृक्षों में जीव सम्बन्धी अपने सिद्धान्त की व्याख्या की। इनके अनुसन्धान की सच्चाई पर अनेक वैज्ञानिक सहमत न हो सके, क्योंकि यह एक बिलकुल अनोखी खोज थी। उन वैज्ञानिकों ने स्वप्न में भी इस ओर नहीं सोचा था। इसलिए रायल सोसाइटी की पत्रिका में उनका भाषण न छप सका। बसु फिर इंगलैण्ड गये और उन्होंने प्रयोगों द्वारा सबके सामने अपने अनुसन्धान की सत्यता सिद्ध कर दिखाई। वैज्ञानिकों को उनके अनुसन्धान को मानना पड़ा।

बसु महोदय ने वनस्पति जीवन को जानने के लिए जिन दो यन्त्रों का आविष्कार किया था, उनमें एक तो रेजोनेंट रिकार्डर था और दूसरा क्रेस्कोग्राफ। रेजोनेंट रिकार्डर द्वारा पता चल जाता है कि पेड़-पौधे खाने-पीने, जगने और सोने आदि की चेष्टाएँ हमारी तरह ही करते हैं। क्रेस्कोग्राफ द्वारा ज्ञात होता है कि कोई पौधा प्रति सेकण्ड कितनी वृद्धि को प्राप्त हो रहा है। यह यन्त्र वास्तविक वृद्धि को ५०० गुना बढ़ाकर दिखाता है। बसु महोदय ने 'वृक्षों में जीव है' नामक ग्रन्थ १६०६ में

प्रकाशित कराया था, जिसमे पौधो की चेष्टाएँ, वृद्धि और विकास की भली-भाँति व्याख्या की गई है।

जब वह फ्रांस मे पेरिस की विज्ञान कांग्रेस मे सम्मिलित हुए तो वहाँ उनका विशेष सम्मान किया गया। वहाँ रहते हुए आक्सफोर्ड तथा कैम्ब्रिज विश्वविद्यालयो और अमरीका की भी अनेक सस्थाओ से निमन्त्रण मिले। यूरोप और अमरीका का उन्होने व्यापक दौरा किया। जहा भी वह गये विज्ञान प्रेमी उनका भाषण सुनने के लिए उन्ह घेर लेते।

स्वदेश लौटने पर कलकत्ता विश्वविद्यालय ने डी० एस-सी० की डिग्री देकर उनका सम्मान किया। पजाब विश्वविद्यालय ने उनको विशेष भाषणो के लिए आमन्त्रित किया और उन्ह १,२०० रुपये भेंट दिये, जो विज्ञान का अनुसन्धान करने वाले किसी योग्य छात्र को १०० रुपये प्रति माह छात्रवृत्ति देने के लिए उन्होने विश्वविद्यालय को ही सौंप दिये।

१६११ मे सरकार ने उनको सी० आई० ई०, १६१६ मे अम रीका से लौटने पर सी० एस० आई० और १६१७ मे सर की उपाधि से विभूषित किया।

१६१५ मे श्री वसु प्रेसीडेंसी कालेज से निवृत्त हुए। अपनी ५६ वी वर्षगाँठ पर आपने 'बसु विज्ञान मन्दिर' की स्थापना अपने नये भवन मे की। अपने परिश्रम से कमाये रुपयो में से ५ लाख रुपया इस सस्था को दानस्वरूप दे दिया। अपनी मृत्यु के समय भी पन्द्रह लाख रुपया देकर अपना नाम अमर कर गये।

१६२० मे वे पुन यूरोप की यात्रा पर गये। इस बार मिस्र

भी गये। इगलैण्ड के परराष्ट्र विभाग की ओर से उनके लिए वहाँ प्रबन्ध किया गया था। यूरोप में उन्होंने अनेक विश्वविद्यालयो में भाषण दिये। अनेक स्थानो पर उनका हार्दिक अभिनन्दन और स्वागत किया गया।

१९२८ मे उनका ७० वाँ शुभ जन्म दिन बड़े उत्साह और समारोह के साथ मनाया गया। देश-विदेशो से शुभ कामनाओं के मगलमय सन्देशो का ताँता लगा था। महात्मा गाँधी ने उन्हें वर्धा से ५ दिसम्बर, १९२८ को एक पत्र मे लिखा था—"मैं यहाँ कूपमण्डूक की तरह रहता हूँ। मुझे मालूम नही होता कि इस कुएँ की दीवारो के बाहर क्या हो रहा है। मुझे कल ही आपके जन्म दिन मनाये जाने का समाचार प्राप्त हुआ। यद्यपि मैं देरी से लिख रहा हूँ, फिर भी आपको जो अनेक शुभ कामनाएँ और बधाइयाँ प्राप्त हुई हैं, उनमें मेरी भी शुभ कामना और बधाई सम्मिलित कर लें। भगवान आपको चिरायु करे, जिससे कि आपके निरन्तर बढ़ने वाले महान् गौरव एव यश में सारा भारत भागीदार बन सके।"

इसी अवसर पर चीन के तत्कालीन शिक्षा मन्त्री ने लिखा था—"समस्त विश्व की आँखें आपके उस महान् कार्य की ओर लगी हैं, जिससे आप विज्ञान को आध्यात्मिकता के रग में रग रहे हैं। आपके गौरव से समस्त एशिया अपने को गौरवान्वित अनुभव करता है।"

बसु महोदय का कद छोटा था, परन्तु उनके दिव्य चक्षु और विशाल मस्तक उनके असाधारण व्यक्तित्व के परिचायक थे।

आप में धैर्य, संकल्प-शक्ति, दयालुता तथा स्वाभिमान अत्यधिक था।

सन् १९४३ में इस महान् वैज्ञानिक का ८५ वर्ष की अवस्था में स्वर्गवास हो गया। निस्सन्देह वह भारत अथवा एशिया ही के नहीं, अपितु अपने युग के विश्व के एक महान् विज्ञानाचार्य थे।

डॉक्टर चन्द्रशेखर वेंकटरमण



"वैज्ञानिक का मूल स्थान सरकारी कार्यालयों में नहीं, उसकी अपनी प्रयोगशाला में है।"

—डॉक्टर रमण

डॉक्टर चन्द्रशेखर वेंकटरमण का विज्ञान के इतिहास में अद्वितीय स्थान है। उन्होंने अपने परिश्रम के बल पर ही अपने आदर्श व्यक्तित्व का निर्माण किया और अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में एक सुनियोजित मर्यादा स्थापित की। बचपन से ही वह [illegible] और [illegible] हुए और अपने मार्ग की विघ्न-बाधाओं को पार करते हुए अपने लक्ष्य तक पहुंचे। वह अपनी प्रयोगशाला को [illegible] मानते थे और उसी में वह [illegible] चिन्तन, अनुसंधान और साधना में लीन रहते।

७ नवम्बर १८८८ को रमण का जन्म एक ऐसे [illegible]

परिवार मे हुआ था, जो अपनी विद्या-बुद्धि के लिए पहले से ही प्रसिद्ध था। उनके पिता श्री रामनाथ चन्द्रशेखर भौतिक विज्ञान के एक सफल अध्यापक थे और उनका मातृकुल सस्कृत के पाण्डित्य के लिए प्रसिद्ध रहा है। उनके नाना इतने अधिक स्वाध्याय प्रेमी थे कि उन्होने न्याय शास्त्र के गूढ रहस्यो को समझने और उसमे पारगत होने के विचार से मद्रास राज्य से पूर्वी बगाल के नदिया जिले तक की पद-यात्रा की थी।

बालक रमण को अपने पितृ-कुल से जहाँ विज्ञान-प्रेम मिला, वहाँ उन्हे अपने मातृ कुल से स्वाध्याय प्रेम उपलब्ध हुआ। रमण के विद्यार्थी जीवन मे ये दोनो गुण निरन्तर विकसित होते रहे। १२ वर्ष की अल्प अवस्था में उन्होने मैट्रिक की परीक्षा उत्तीण की। फिर ए० वी० एन० कालिज, विशाखापट्टनम तथा प्रेसीडेंसी कालिज, मद्रास मे उन्होने शिक्षा प्राप्त की। एफ० ए० की परीक्षा प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण करने के उपरान्त उन्होंने प्रेसीडसी कालिज, मद्रास से बी० ए० की परीक्षा उत्तीण की। विश्वविद्यालय मे वह सर्वप्रथम रहे, फलस्वरूप उन्हें अनेक पदक प्राप्त हुए। इसके बाद उन्होंने भौतिक विज्ञान मे एम० एस-सी० की परीक्षा उत्तीर्ण की, जिसमे वह सर्वप्रथम आये। इस परीक्षा मे इन्होंने इतने अक प्राप्त किये थे, जितने उनके पूर्व किसी परीक्षार्थी को नही प्राप्त हुए थे।

१९०७ मे शिक्षा प्राप्त करने के बाद रमण डिप्टी एका-उण्टेण्ट जनरल नियुक्त हुए। उस समय उनकी अवस्था १९ वर्ष की थी। इस छोटी अवस्था मे ही अपनी मेधावी प्रतिभा से उन्होंने अपने अधिकारियो को आश्चर्यचकित कर दिया। वह

बडे मेहनती और अध्ययनशील थे। कार्यालय मे फाइलें निपटाने के अतिरिक्त वह अपनी विज्ञान-पिपासा को भी शान्त करते रहते थे। डिप्टी एकाउण्टेण्ट जनरल के सम्मानित पद पर आसीन होते हुए भी वह एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक होने का स्वप्न देखा करते थे। वह 'लक्ष्मी' की नही, बल्कि सरस्वती की उपासना मे अधिक आनन्दित होते थे। उन दिनो सर आशुतोष मुखर्जी कलकत्ता विश्वविद्यालय मे थे और उन्हें अपने भौतिक विभाग के लिए एक सुयोग्य अध्यापक की आवश्यकता थी। वह रमण की प्रतिभा से पहले से ही परिचित थे, इसलिए उन्होने रमण को अपने यहाँ बुलाना चाहा। रमण ने सहर्ष अपनी स्वीकृति दे दी और वह सरकारी नौकरी छोड कर सन् १९१७ मे कलकत्ता चले गये।

रमण ने कलकत्ता विश्वविद्यालय मे बडे परिश्रम से कार्य किया। उनके अनुसन्धान का मुख्य विषय था—'प्रकाश और रग।' उन्होंने आसमान मे कुहरे और बादलो से बने हुए रगीन किरीट एव इन्द्र-धनुष के रगो की व्याख्या की। अभ्रक के अति सूक्ष्म पटल (फिल्म) आदि के रगो का विश्लेषण और अध्ययन भी उन्होंने इसी समय शुरू किया। विदेशो में उनके इन अनु-सन्धानो का सबसे अधिक प्रचार हुआ और वह प्रकाश-विद्युत के प्रमुख वैज्ञानिक माने जाने लगे।

१९२१ मे उन्होंने प्रथम बार प्रयोग के लिए समुद्र-यात्रा की। इस यात्रा से उन्हे समुद्र के जल के नीले होने के कारण पर विचार करने की प्रेरणा प्राप्त हुई। सितम्बर में वह भारत लौट आये। इसके पश्चात् उन्होंने जल और उसके समान [illegible]

द्रव मे होकर प्रकाश के आर-पार जाने का अनुशीलन आरम्भ किया। अनेक वर्षों तक वह अपने इस अन्वेषण मे जुटे रहे। अन्त मे उन्हें अपने प्रयोग मे सफलता मिली और उन्होने यह प्रमाणित किया कि अणुओ की गति के कारण प्रकाश का परिक्षेपण होता है। यह परिक्षेपण केवल पारदशक पदाथ मे ही नही होता, वरन् बफ और स्फटिक-जैसे ठोस पदार्थ मे भी होता है। उनका यह सिद्धात 'रमण प्रभाव' के नाम से सन् १९२८ में प्रकाशित हुआ।

१९३० मे उनके अनुसधान—'रमण प्रभाव'—पर उन्हें 'नोबल पुरस्कार' प्रदान किया गया। भारत मे रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पश्चात् रमण ही दूसरे नोबल पुरस्कार विजेता हैं।

डॉक्टर रमण असाधारण प्रतिभा वाले असाधारण वैज्ञानिक थे। विज्ञान का सर्वोच्च पुरस्कार 'नोबल पुरस्कार' प्राप्त करने के बाद भी वह अपने प्रयोगो मे दिन-रात लगे रहते थे। कलकत्ता विश्वविद्यालय के अध्यापन काय से मुक्त होकर वह बगलौर मे स्थायी रूप से रहने लगे। १९३२ से अन्त तक वहाँ के 'इण्डियन इस्टीट्यूट आफ रिसच' मे अपने अनुसधान कार्यों से रत रहे। इस सस्था मे उन्होने भौतिक विज्ञान से सम्बद्ध एक प्रयोगशाला की स्थापना भी की है और उनका सारा समय इसी प्रयोगशाला मे व्यतीत होता। उनके कुशल निर्देशन मे अनेक स्नातकों ने इस प्रयोगशाला मे अनुसधान काय किये। सर के० एम० कृष्णन सदृश रत्न इसी प्रयोगशाला की देन हैं।

डॉक्टर रमण स्वतन्त्र विचारधारा के सर्वोच्च वैज्ञानिक थे।

वह अपने अनुसन्धान कार्यों मे किसी का हस्तक्षेप सहन नही करते थे। उनकी विचारधारा प्राचीन ऋषि मुनियो की वाणी से प्रभावित थी और इसी कारण वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि किसी भी सरकार को किसी भी वैज्ञानिक के काय में हस्तक्षेप नही करना चाहिए। वह अपने विचार के अनुसार कोई ऐसी राजकीय सहायता स्वीकार नही करते थे जिसके साथ कोई शत जुडी होती थी। उन्हे किसी के आश्रय मे रहना भी अच्छा नही प्रतीत होता था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त भारत सरकार ने अपने वैज्ञानिक अनुसन्धान विभाग मे कार्य करने के लिए उन्हे एक उच्च पद देने का प्रस्ताव रखा था, लेकिन स्वाभिमानी रमण ने अपनी स्वतन्त्र प्रकृति के कारण उसे अस्वीकार कर दिया। उन्होने कहा था—"वैज्ञानिक का मूल स्थान सरकारी कार्यालयो मे नही, उसकी अपनी प्रयोगशाला मे है।"

डॉक्टर रमण केवल एक शुष्क वैज्ञानिक ही नही थे। वह प्रकृति के उपासक, साहित्य-प्रेमी और सगीत प्रेमी भी थे। उनका उद्यान उनके प्रकृति-प्रेम का सुन्दर उदाहरण है। वह अपने उद्यान की साज सज्जा मे बहुत रुचि रखते थे। उनकी प्रयोगशाला भी बहुत आकपक है, लगता है, जैसे वह किसी कलाकार की प्रयोगशाला हो। इस प्रयोगशाला में विज्ञान के दुर्लभ यन्त्र विद्यमान हैं। प्रयोगशाला मे भाति-भाँति के रत्नो का सग्रह उसकी अपनी विशिष्टता है। इन सबके बावजूद उसमे नाना प्रकार की रग-बिरगी तितलियाँ और पुष्प उसकी शोभा मे चार चाँद लगा देते हैं। डॉक्टर रमण को फूलो से अति प्रेम था और

उनकी प्रयोगशाला मे पहुँच कर लगता है कि दशक भूलकर किसी फूलो की प्रदशनी मे आ गया हो।

डॉक्टर रमण के दीघ एव स्वस्थ जीवन का रहस्य था—उनका मानसिक उल्लास और अनासक्त सलग्नता। वह वास्तव मे विज्ञान के मौन साधक थे। अपनी प्रयोगशाला मे मानसिक श्रम करते-करते जब वह क्लान्त होकर घर लौटते तब वह अपनी पत्नी के साथ वीणा का आनन्द लेते। उनकी पत्नी वीणा बजाने में बडी निपुण थी। कभी-कभी अपनी मानसिक थकान को दूर करने के लिए वह साहित्य-चर्चा मे रम जाते। उन्हें कविता पढने और सुनने मे भी रुचि थी। राजनीति, भाषा, और अथ-विषयक समस्याओ पर भी वह एकाग्रचित्त हो विचार करते। उनकी इन विषयो से सम्बद्ध विचारधारा से प्रतीत होता है कि वह जागरूक, लेकिन सरल स्वभाव के एक वैज्ञानिक थे। अपनी प्रयोगशाला मे रहते हुए भी वह ससार की गतिविधि पर अपना ध्यान केन्द्रित रखते और अपने विचार प्रकट करते रहते। उन्होंने सगीत-वाद्यो पर भी एक पुस्तक लिखी थी। यह उनकी सगीत मे रुचि होने का स्पष्ट प्रमाण है।

डॉक्टर रमण ने जितना भी यश अर्जित किया वह केवल अपनी प्रतिभा और अध्यवसाय के बल पर ही। वह फीबर्ग के पी० एच-डी०, ग्लास्गो के एल० एल० डी० और पेरिस मे डी० एस-सी० थे।

१६४१ में अमरीका के फ्लाडलफिया की फ्रैंकलिन इस्टीट्यूट ने उन्हें 'फ्रैंकलिन पदक' देकर उनका सम्मान किया। वह लन्दन की 'रॉयल सोसाइटी' के 'फेलो' थे। इन उपाधियों और

सम्मानो के अतिरिक्त वह 'इण्डियन अकादमी आफ साइंस' के अध्यक्ष और भौतिक विज्ञान के नेशनल रिसर्च प्रोफेसर रहे थे।

१६४७ मे उन्हे अन्तर्राष्ट्रीय लेनिन पुरस्कार भी मिला। 'रमण इफेक्ट' अर्थात् 'रमण प्रभाव' पर तत्कालीन विदेशी सरकार ने उन्हे 'सर' की उपाधि देकर सम्मानित किया। सन् १६५४ मे भारत सरकार ने उन्हे 'भारत रत्न' की उपाधि देकर उनका सम्मान बढाया। उन्होने अपने जीवन-काल मे ही विश्व-विख्यात सम्मान और यश अर्जित किया।

आधुनिक प्रकाश विज्ञान के क्षेत्र मे डॉक्टर रमण के 'रमण प्रभाव' का स्थान अति महत्वपूर्ण है। आधुनिक विज्ञान को उनकी यह मौलिक देन है। उनके इस अन्वेषण ने ही उन्हे 'रत्नो' और 'हीरो' के बनाने की प्रेरणा दी। एक बार कुछ पत्रकार उनकी प्रयोगशाला मे आये। डॉक्टर रमण ने एक पत्थर का टुकडा-जैसा पदार्थ उठा लिया। इसके बाद उन्होने 'आल्ट्रा वायलट' किरणो की लघु और दीर्घ धाराओ (वेव) से उसे परिष्कृत और संस्कृत किया। कुछ ही मिनटो मे वह प्रस्तर खड चमकने लगा। यह देखकर पत्रकार विस्मित रह गये।

डॉक्टर रमण एक अच्छे लेखक भी थे। विज्ञान की अत्यन्त जटिल बातो को वह सरल भाषा और आकर्षक शैली मे अभिव्यक्त करने मे सिद्धहस्त थे। उनके लेख भारत, इंग्लैण्ड और अमरीका की वैज्ञानिक पत्र-पत्रिकाओ मे निरन्तर प्रकाशित होते रहते थे।

गम्भीर होने के साथ-साथ वह अति विनोदी प्रकृति के थे। एक बार वह फ्रास की एक पार्टी मे सम्मिलित हुए। वहाँ उन्होने

अपने अनुसन्धान 'रमण प्रभाव' पर भाषण दिया। भाषण के बाद पार्टी आरम्भ हुई। पेय-पदार्थों मे मदिरा के प्याले रखे गये। डॉक्टर रमण ने मुस्कराते हुए कहा—"आप लोगो को शराब पर 'रमण प्रभाव' अभी बता चुका हूँ, आप अब रमण पर शराब का प्रभाव देखना चाहते है।"

उनका यह व्यग्य शराब पर था। इसी प्रकार एक व्यग्य उन्होंने जमन वैज्ञानिक लावे पर कसा था। लावे के आविष्कार को 'लावे-चित्र' कहते हैं। एक बार श्री लावे नगे होकर समुद्र तट का आनन्द ले रहे थे। उसी समय कुछ व्यक्तियो के साथ डॉक्टर रमण भी उस स्थान पर पहुँच गये। लोग लावे की उसी मुद्रा का चित्र उतारने लगे। डॉक्टर रमण उस समय स्वय को रोक न सके। उन्होंने कहा—"यही वास्तविक 'लावे-चित्र' होगा।" उनका इतना कहना था कि पूरा समुदाय ठहाका मार कर हँस पडा।

यद्यपि जीवन के अन्तिम समय मे वे हृदय-रोग से पीडित थे, फिर भी निरन्तर कार्य करते रहे। २० नवम्बर, १९७० को बगलौर स्थिति अपने निवासस्थान पर भारत के इस गौरवशाली पुत्र ने अपनी जीवन-लीला समाप्त की।

डा० होमी जहाँगीर भाभा

"सच्चे वैज्ञानिक का जीवन सतत् सत्य की खोज के लिए संघर्षरत रहता है। वह सदैव सत्य की खोज में रहता है—सत्य जो सिद्ध किया जा सके और जिसकी सत्यता में सन्देह के लिए कोई स्थान न हो। फिर इस सत्य का उपयोग भी मानव के कल्याण के लिए किए जा सके।"

—डॉक्टर भाभा



डॉक्टर होमी जहाँगीर भाभा की गिनती विश्व के चोटी के वैज्ञानिकों में की जाती है। ३० अक्टूबर, १९०९ को बम्बई के एक सम्मानित एवं सुसंस्कृत पारसी बैरिस्टर श्री जे० एच० भाभा के यहाँ उनका जन्म हुआ। घर में किसी चीज का अभाव न था और पूरा परिवार शिक्षा-प्रेमी था। ऐसे वातावरण में बालक भाभा को बड़ी प्रेरणा मिली। उनकी शिक्षा कैथेड्रल हाई स्कूल में प्रारम्भ हुई। १५ वर्ष की अवस्था में उन्होंने 'सीनियर कैम्ब्रिज' की परीक्षा सम्मान के साथ उत्तीर्ण की। फिर उन्होंने कुछ दिनों एलफिंस्टन कालिज में अध्ययन करने के उपरान्त बम्बई विश्वविद्यालय के 'रायल इंस्टीट्यूट आफ साइंस' में प्रवेश लिया और यहाँ से उन्होंने आई० एस-सी० की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। आई० एस-सी० की परीक्षा उत्तीर्ण कर फिर

एलफिस्टन कालिज में अध्ययन करने लगे और १६२६ ई० मे एफ० वाई० ए० की परीक्षा प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण की। इन तीनो परीक्षाओ मे विज्ञान और गणित उनकी रुचि के विषय थे। इसके बाद भाभा के पिता ने उन्हे पढने के लिए इग्लैण्ड भेज दिया और वहाँ वह कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के अन्तगत 'गानवाइल' और 'केयस' नामक कालिजो मे अध्ययन मे जुट गये।

भाभा का विद्यार्थी जीवन अत्यन्त सरल और सवथा आडम्बरहीन था। वह बडे परिश्रमी छात्र थे। इग्लैण्ड में रह-कर भी वह वहाँ के विलासी वातावरण मे दूर ही रहे। वह बडी लगन से अध्ययन करते रहे और १६२६ ई० मे 'मेकेनिकल साइस ट्राइपास' परीक्षा का प्रथम खण्ड उत्तीण किया और अगले वर्ष द्वितीय खण्ड प्रथम श्रेणी मे उत्तीण कर बी० ए० की डिग्री प्राप्त की।

कालिज के वार्षिक अवकाश को इधर-उधर सैर-सपाटे मे न खोकर उन्होने वे छुट्टियाँ 'रगबी' के 'ब्रिटिश टामसन हुस्टन वर्क्स' मे अप्रटिश के रूप में बितायी और इजीनियरिंग की व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त की। उन दिनो मेकेनिकल विज्ञान (इजीनियरिंग) ट्राइपास की परीक्षा छ विषयो मे होती थी, भाभा ने सभी विपयो मे परीक्षा दी और उनमे उच्च अक प्राप्त कर अपने मेधावी होने का प्रमाण दिया। उनकी असाधारण प्रतिभा से प्रभावित हो उनके शिक्षको की उन पर विशेष कृपा होने लगी थी, जिसके कारण वे उन्हें अध्ययन में प्रत्येक प्रकार का सहयोग देते थे।

१९३०-३१ मे भाभा ने भौतिक विज्ञान के ख्याति प्राप्त प्रोफेसर डाइरेक और प्रोफेसर माह के साथ रहकर भौतिक विज्ञान का गम्भीर अध्ययन किया। इन्ही वैज्ञानिक मनीषियो के कारण भाभा सैद्धान्तिक भौतिक विज्ञान मे पारगत हो सके।

यह केयस कालिज के विद्यार्थी रहे थे, इसीलिए कालिज के अधिकारियो ने १९३२ में उन्हें गणित के विशेष अध्ययन के लिए 'राउस बाल ट्रेवलिंग स्टूडेण्टशिप' छात्रवृत्ति प्रदान की, जिससे उन्हे यूरोप की यात्रा करने का सुअवसर मिला। १९३२ में वह ज्यूरिख गये और वहाँ प्रोफेसर डब्लू० पालि के सम्पर्क में रहकर १९३४ तक गणित का विशेष अध्ययन किया। अपना अन्वेषणात्मक मौलिक निबन्ध भी उन्होने वही लिखा था। इस निबन्ध का वैज्ञानिको पर बडा अच्छा प्रभाव पडा और उनकी ख्याति चारो ओर फैल गई।

१९३४ मे वह ज्यूरिख से रोम गये और वहाँ उन्होंने प्रोफेसर फर्मी के साथ रहकर अध्ययन किया। फिर रोम से वह यूट्रेक्ट गये जहाँ उन्होंने प्रोफेसर क्रेमस के सम्पर्क मे रहकर कुछ दिनो तक अध्ययन किया।

१९३४ मे ही उन्हें उनकी असाधारण प्रतिभा से प्रभावित हो 'आइजक न्यूटन छात्रवृत्ति' प्रदान की गई। उन्होंने इसी वर्ष पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। उन्हें १९३६ मे १८५१ की प्रदर्शनी की उच्चतर छात्रवृत्ति भी लगातार तीन वर्ष तक प्राप्त होती रही। इन छात्रवृत्तियो की प्राप्ति से सम्पूर्ण यूरोप के विश्वविद्यालयो के वैज्ञानिको पर उनकी विद्वत्ता और

असाधारण प्रतिभा की धाक बैठ गई। सब जगह उनका सम्मान होने लगा। उन्होंने लगातार पाँच महीने तक कोपेनहेगन स्थित नील्स-बोह्र भौतिक प्रयोगशाला में शोध कार्य किया।

१९३७ मे प्रोफेसर मेक्सबार्न ने एडिनबरा मे उन्हे 'कास्मिक किरण-प्रसार' पर भाषण देने के लिए आमन्त्रित किया। वहाँ उन्होने कई भाषण दिये। उनके इन भाषणो तथा शोध काय मे उनकी सफलता से प्रभावित होकर 'रायल सोसाइटी' ने अपने 'माण्ड-फण्ड' से आर्थिक सहायता देकर उनको प्रोफेसर ब्लैकेट की मैनचेस्टर स्थित 'कास्मिक किरण अनुसंधानशाला' मे काय करने के लिए आमन्त्रित किया और कैम्ब्रिज मे शोध कार्य करने की हर सम्भव सुविधा भी प्रदान की। यूरोप मे अपनी प्रतिभा से वहाँ के वैज्ञानिको को प्रभावित कर तथा सर्वोच्च सम्मान प्राप्त कर वह १९४० ई० मे स्वदेश लौट आये।

१९४० मे बगलोर के 'इण्डियन इस्टीट्यूट आफ साइस मे सैद्धान्तिक भौतिक विज्ञान के विशेष रीडर नियुक्त हुए। १९४२ मे कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय ने उन्हें 'एडम्स 'पुरस्कार' प्रदान किया और इसी वर्ष वह बगलौर के 'इण्डियन इस्टीट्यूट आफ साइस' मे कास्मिक किरण शोध के प्रोफेसर पद पर नियुक्त किये गये तथा १९४५ तक वह इस पद को सम्भाले रहे।

१९४४ में पटना विश्वविद्यालय ने उन्हे 'डाक्टर आफ साइस' की सम्मानित उपाधि प्रदान की। १९४५ मे उन्होंने बगलोर से नौकरी छोड दी और फिर वह 'टाटा इस्टीट्यूट आफ फण्डामेण्टल रिसर्च' बम्बई के निदेशक नियुक्त हुए।

१९४७ मे भारत के स्वतन्त्र होने पर उन्हें भारतीय अणु-शक्ति आयोग का चेयरमेन घोषित किया गया। १९४८ मे कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय ने उन्हे 'हपकिंस पुरस्कार प्रदान किया। १९४९ मे लखनऊ और १९५० मे काशी विश्वविद्यालय ने डी० एस-सी० की सम्मानित उपाधि देकर उनका गौरव बढ़ाया।

१९५१ मे 'इण्डियन साइंस कांग्रेस' के सभापति बने। १९५२ में आगरा और १९५४ मे पथ विश्वविद्यालय ने उनकी विद्वत्ता का सम्मान करने के लिए उन्हें डी० एस-सी० की सम्मानित उपाधियाँ प्रदान की।

१९५४ मे उनकी देश और विज्ञान की सेवाओ के प्रति राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद ने उन्हे 'पद्मभूषण' उपाधि से विभूषित किया। इसी वर्ष उन्हें सरकारी 'परमाणु-ऊर्जा विभाग का सचिव पद प्रदान किया गया।

१९५५ मे जनेवा मे होने वाले सर्वप्रथम 'इण्टरनेशनल एटामिक एनर्जी कान्फ्रेंन्स' के वह अध्यक्ष निर्वाचित हुए १९५७ मे कैम्ब्रिज के केयस और गानवाइल नामक कालिजो ने उन्हें अपना-अपना 'फेलो' चुना। इसी वर्ष वह एडिनबरा की 'रायल सोसाइटी' के फेलो बनाये गये। अमरीका की 'अकादमी आफ आर्ट एण्ड साइंस' ने भी उन्हे अपनी सस्था का सदस्य बनाया।

१९५९ मे कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय ने और १९६० मे लन्दन विश्वविद्यालय ने उनको 'डाक्टरेट' की उपाधि प्रदान की।

सभी देशो मे इतना अधिक सम्मान और उनके सम्मान-

प्रदर्शन के लिए सम्मानित उपाधियो की यह वर्षा इस बात की पुष्टि करती है कि डॉक्टर भाभा आज के नाभकीय युग की दिव्य विभूति थे। लेकिन ऐसे कर्मठ वज्ञानिक के लिए कोई भी सम्मान बडा नही ह। वास्तविकता तो यह है कि विश्व की अनेक शिक्षण एव वैज्ञानिक सस्थाओ ने उन्हें सम्मानित कर अपना ही गौरव बढाया है। विज्ञान के क्षेत्र मे उन्होने जो शोध कार्य किया है और उसमे जो उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं, वे अमूल्य हैं। सम्मान अथवा ख्याति प्राप्त करने की चाह से उन्होने परमाणु शक्ति का अध्ययन एव अनुसधान नही किया, वरन् मानव सेवा का व्रत ही इसकी मूल प्रेरणा रहा।

परमाणु शक्ति की जिस भयकरता की कल्पना पर आज का मानव थर-थर कांप रहा है, उसे निर्मूल करना और परमाणु शक्ति का उपयोग मानव की सुख-सुविधा की वृद्धि मे करना उनकी वैज्ञानिक साधना का ध्येय रहा है। वह मृत्युपर्यन्त अपने इसी लक्ष्य को ट्राम्बे के परमाणु शक्ति सस्थान मे सफल बनाने के लिए रात-दिन लगे रहते थे। इस परमाणु शक्ति सस्थान का उद्घाटन स्वर्गीय प्रधान मन्त्री जवाहरलाल नेहरू ने १९५४ में किया था। इसमे दो मुख्य भट्टियाँ हैं—एक 'अप्सरा' जिसका निर्माण १९५६ में हुआ था और जो अब सफलतापूर्वक कार्य कर रही है। इसके द्वारा रेडियो-सक्रिय आइसटोपो का निर्माण-कार्य होने लगा है, जो भाँति-भाँति के अनुसधान कार्यों में प्रयोग किये जा रहे हैं। दूसरी भट्टी का नाम है—'जरलीना'। यह परमाणु भट्टी कई करोड रुपयो की लागत से कनाडा के

सहयोग से बनाई गई है। इसका उद्घाटन १६ जनवरी १९६१ को पंडित जवाहरलाल नेहरू ने किया था।

'जरलीना भट्टी' विश्व की सबसे बडी भट्टियो मे से एक है और इसके द्वारा प्रत्येक प्रकार के आइसटोप निर्मित किये जा रहे हैं। इसके अतिरिक्त एक थोरियम यन्त्र भी कार्य कर रहा है, जिसमें परमाणु शक्ति के उत्पादन के लिए आवश्यक थोरियम और यूरेनियम को शुद्ध कर परमाणु भट्टी मे प्रयोग करने के योग्य बनाया जाता है।

डॉक्टर भाभा सदैव अणुशक्ति के शान्तिपूर्ण उपयोग के समथक रहे। अक्तूबर १९६४ मे एक भेंट मे उन्होंने कहा था—"भारत नेचुरल यूरेनियम से यू-२३५ निकालने का कारखाना नही लगायेगा।" उन्होने कारण बताते हुए कहा—"यह एक खर्चीला काम है और हम अपने साधन-स्रोतो का अपव्यय नही करेंगे।"

१९६४ मे आकाशवाणी पर बोलते हुए डॉक्टर भाभा ने इस बात पर जोर दिया था कि पूर्ण निरस्त्रीकरण के लिए निश्चित व प्रभावकारी पग उठाए जाने चाहिए, क्योंकि अणु बम बनाने पर बहुत कम व्यय होता है। और कम व्यय मे बनने के लालच में अनेक देशो को इसे बनाने का भूत सवार हो सकता है, जो अत्यन्त भयानक पग होगा और विश्व शान्ति के खतरो को और बढायेगा।

१९६४ मे तत्कालीन प्रधानमन्त्री स्वर्गीय लालबहादुर शास्त्री ने डॉक्टर भाभा के सामने अणु शक्ति और वैज्ञानिक शोध-मन्त्री के रूप में केन्द्रीय मंत्रिमण्डल मे आने का प्रस्ताव रखा

लेकिन डाक्टर भाभा इस प्रस्ताव को स्वीकार न कर सके।

१९६३ मे वह न्यूयार्क साइंस अकादमी के आजीवन अवैतनिक सदस्य चुने गये।

डॉक्टर भाभा मानवता के पुजारी थे। यह जानते हुए भी कि भारत नाभकीय विस्फोटो के निर्माण मे पूर्णरूपेण समर्थ है, वह परमाणु शक्ति का उपयोग मानव-कल्याण मे करने के लिए सतत प्रयत्नशील रहे। उनका विश्वास था कि परमाणु शक्ति खाद्यान्न-उत्पादन और उसकी सुरक्षा के लिए अत्यन्त उपयोगी होगी। उनका यह भी कहना था कि विकिरण द्वारा कीडो की वृद्धि को भी रोका जा सकता है, इसीलिए वह फसलो की सुरक्षा सम्बन्धी प्रयोगो मे भी लगे रहते थे।

अहमदाबाद के निकट तारापुर मे परमाणु बिजलीघर बनाने का कार्य भी उन्ही को सौंपा गया था। केरल के तट पर परमाणु-खनिज मोनेजाइट पर्याप्त माला मे पाया जाता है। वहाँ थोरियम-खनिज के छिपे भण्डार का पता चला है। इन्ही क्षेत्रो मे यूरेनियम भी प्राप्त होता है, जिससे प्लूटोनियम का उत्पादन सरलतापूर्वक किया जा सकता है। इस प्रकार हमारा देश अणु शक्ति के स्रोतो से भी सम्पन्न है। परमाणु परीक्षण की दृष्टि से भी देश अग्रणी है और आवश्यकता पडने पर वह नाभकीय विस्फोटक भी बना सकता है। डॉक्टर भाभा से देश को ही नही बल्कि समूचे ससार को बडी-बडी आशाएँ थी।

डॉक्टर भाभा एक महान् वैज्ञानिक होने के साथ साथ ललित कलाओ के भी प्रेमी थे। उन्हें सगीत का शौक था और स्वय बड़े अच्छे चित्रकार भी थे।

२४ जनवरी, १९६६ को यूरोप जाते हुए एक विमान दुर्घटना मे डॉक्टर भाभा का देहान्त हो गया और ससार ने एक महान् अणु-वैज्ञानिक को अपने बीच से खो दिया, जो अणु शक्ति को मानव के कल्याण के लिए शान्तिपूर्ण कार्यों मे नया मोड देने मे सफल हुआ था।

यह उन्ही की प्रतिभा और कुशल निर्देशन था, जिसने भारत की गणना विश्व के चार-पाँच समुन्नत अणु राष्ट्रों में करा दी।

राबर्ट एडविन पेरी

"शारीरिक, मानसिक और नैतिक, जो भी शक्ति मेरे अन्दर है, वह मैं इस (उत्तर ध्रुव अभियान) पर लगा दूँगा।"
—एडविन पेरी



राबर्ट एडविन पेरी ने अपना समस्त बचपन इस प्रकार से व्यतीत किया कि आगे चलकर इससे उसे उत्तर की ओर ध्रुव की खोज करने में बड़ी सहायता मिली। देखने मे ऐसा प्रतीत होता था मानो ईश्वर ने उन्हें महान् और कठिन काय के लिए ही बनाया हो। उनका कद लम्बा, भारी कन्धे और चौड़ी छाती थी। उनकी मूछें घनी और लम्बी थी तथा उनके चेहरे पर बाद में सद हवाओ मे निरन्तर रहने के कारण चिह्न और रेखाएँ पड गई थी।

६ मई, १८५६ को एडविन पेरी का जन्म पेनसिलवानिया की कैम्ब्रिया काउंटी में हुआ, जहाँ उनके माता-पिता कुछ दिनो पहले मेने से आकर बस गये थे। उनके पिता की मृत्यु के बाद

उनकी मा मेने मे अपने सम्बन्धियो के पास जाकर रहने लगी थी और पेरी का जीवन, उस स्थान पर व्यतीत हुआ जो अब पोर्टलैण्ड का एक भाग है।

हाई स्कूल की शिक्षा समाप्त करके वह बोडोइन कालिज मे दाखिल हुए, जहाँ वह कुशल खिलाडी होने के साथ-साथ सिविल इजीनियरिंग के प्रतिभाशाली विद्यार्थी थे। उनके एक प्रोफेसर का कहना था कि जितना मैंने पेरी को सिखाया, उतना ही मैंने उनसे सीखा।

उस समय अधिकांश लोग पैदल चला करते थे और पेरी के लिए पच्चीस-पच्चीस मील चले जाना साधारण-सी बात थी। एक बार वह साढे आठ घण्टे मे तीस मील पैदल चले। कालिज मे नाव चलाने वालो मे वह सबसे आगे निकल गये। एक बार उन्होने ३१६ फुट की ऊँचाई पर गेंद फेंककर अपने सब साथियो को विस्मित कर दिया। इन सब गुणो के अलावा वह एक अच्छे तैराक और नाविक भी थे।

पेरी कालिज से इजीनियरिंग मे स्नातक बनने के बाद फ्रायबर्ग मे इजीनियर लग गये। अब भी उनकी खेलो मे दिलचस्पी पहले जैसी ही थी—वह सर्दी मे पहाडो पर से फिसलना और स्केटिंग पार्टियो और नाटको मे भाग लेना पसन्द करते थे। उन्होने गाना सीखने का अभ्यास किया। जवान घोडो को साधने मे उन्हे बडा आनन्द मिलता था। उन्होंने ड्राइग बनाना भी सीखा, जो उनकी उत्तर की यात्राओ मे नक्शे और चार्ट आदि बनाने के बडी काम आई। वास्तव मे ऐसा कोई कार्य न था जिसे पेरी ने अच्छी तरह सीखने का प्रयत्न न किया हो।

वह कोस्ट एण्ड ज्योडेटिक सर्वे मे ड्राफ्ट्समैन के रूप मे वाशिंगटन गये। वहाँ उन्हें दस डालर प्रति सप्ताह मिलता था। जब वह वाशिंगटन मे थे, उन्होंने अमरीकी नौसेना के सिविल इजीनियर कोर का सदस्य बनने की परीक्षा दी। इस परीक्षा मे २०० व्यक्तियो मे से चार उत्तीर्ण हुए, जिनमे एक पेरी भी थे। शीघ्र ही उन्हे मध्य अमरीका मे निकारागुआ भेज दिया गया। १८४४ में जब पेरी निकारागुआ मुहिम के साथ दक्षिण मे गये तो उनकी अवस्था २८ वर्ष थी। उन्होंने सर्वे की बहुत कठिन कार्य की जिम्मेदारी ली और वह एक अत्यन्त घने जगल मे घुस गये। आगे का रास्ता खोजने के लिए उन्हें पेडो पर चढना पडता था। वह दूसरे मित्रो के साथ नदियो और कीचड मे से आगे बढते रहे और रात में उन्हें खुले आकाश के नीचे ही सोना पडता।

पेरी ने पहली बार इस मुहिम मे अपनी डायरी मे ध्रुव की खोज के आकर्षण का वर्णन किया। जब वह घर लौटे तो उन्होंने एक पुराने पैम्फलेट मे ग्रीनलैण्ड की बर्फ का हाल पढा, जिससे उनकी जिज्ञासा और बढ गई। उन दिनो उत्तरी ग्रीनलैण्ड के बारे मे बहुत कम जानकारी प्राप्त थी और यह ज्ञात नही था कि उसका उत्तर मे कहाँ तक विस्तार है। अब हमें ज्ञात हो चुका है कि उत्तर का यह सबसे बडा और अन्तिम द्वीप है। यह द्वीप पेनसिल्वानिया से तेरह गुना बडा है और ८,००० फुट की ऊँचाई पर बर्फ का एक बडा भारी प्याला-सा है, जिसके किनारे पर पहाड है।

पेरी का विचार था कि ग्रीनलैण्ड उत्तर में ध्रुव तक फैला

हुआ होगा और वह इस द्वीप के उत्तर में चलते हुए ध्रुव तक पहुँच जायेंगे तथा उसे पार कर लेंगे।

ग्रीनलैण्ड मे सूर्य कुछ महीने ही चमकता है और इन दिनो तट के निकट गरमी पडती है परन्तु सूर्य के क्षितिज के नीचे अस्त होते ही, जहाँ वह वर्ष के अधिकांश महीने रहता है, ग्रीनलैण्ड मे रक्त जमा देने वाली बडे कडाके की सर्दी पडती है और भयकर शीत हवाएँ चलती हैं।

पेरी अभी आकटिक (अयनवृत्त) से वापस लौटे थे, पर उस नौजवान के लिए उत्तर मे बडा आकर्षण था। इससे पूर्व किसी ने भी ग्रीनलैण्ड के पूर्वी तट तक पहुँचने की चेष्टा नही की थी। इसलिए उत्तर मे, उन्होंने जहां तक सम्भव हो सका इस द्वीप के भीतर जाने का सकल्प किया।

१८८६ में पहली बार उत्तर के लिए चल पडे और डिस्को द्वीप के पूव से अन्दर जाना शुरू किया। उनका एकमात्र साथी था—क्रिश्चियन मेगार्ड,। दोनो व्यक्तियो ने अनेक गड्ढे पार किये, कइयो मे गिरे भी, लेकिन भाग्य से बच गये। एक बार तो पेरी एक नदी पार करते हुए गिर पडे। यह नदी बर्फ की दीवारो के बीच से बह रही थी। पानी की तेज धार उन्हें अपने साथ बहा ले गई और वह डूबते-डूबते बचे। वे द्वीप के भीतर सौ मील पहुँच कर वापस लौट आये।

वाशिंगटन पहुँचने पर पेरी ने देखा कि निकारागुआ नहर का काम फिर प्रारम्भ होने वाला है। वह एक नई मुहिम के नेता बनकर १८८७ मे वहाँ पहुँचे। इस कार्य में लगभग एक वर्ष लगा और अयनवृत्त मे उनकी यह अन्तिम मुहिम थी। पेरी को

अब एक ऐसा मित्र मिल गया जिसने उनके कार्य में भविष्य में बड़ी सहायता दी—वह थी स्मिथसोनियन इस्टीट्यूट के एक प्रोफेसर की लडकी, जोसेफीन डीबिस्च। पेरी को उससे प्रेम हो गया। १८८८ मे वाशिंगटन मे उन दोनो का विवाह हो गया।

इस अवधि मे भी उनमे उत्तरी ध्रुव का आकर्षण कम नही हुआ। पेरी ने इस बार एक बडी यात्रा की योजना बनाई। एक अन्य यात्री नानसेन ने ग्रीनलैण्ड के निचले भाग को पार किया था, किन्तु भीतरी भाग नक्शे पर एक काले धब्बे के अलावा और कुछ नही था। उत्तरी और उत्तरी पूर्वी तटो के विषय में भी कुछ जानकारी किसी को नही थी। पेरी ने इन इलाको में जाने का निश्चय किया।

६ जून १८९१ को वह नौ सेना से छुट्टी लेकर उत्तर की यात्रा को चल दिये। उनके साथ उनकी पत्नी और कुछ वैज्ञानिक भी थे। डॉक्टर फ्रेड्रिक कुक इस यात्रा में एक डाक्टर था। बाद में उसने यह भी कहा कि पेरी से पहले मैं ध्रुव पर पहुँचा। पेरी के ध्रुव से लौटने के बाद कुक की इस बात से एक बवण्डर उठ खडा हुआ।

पेरी ने अपने साथ एक व्यक्ति, ईविड अस्ट्रूप को लिया और इस बार सर्दी का पडाव ग्रीनलैण्ड के उत्तर-पश्चिम में इगलफील्ड खाडी को बनाया। उन्होंने उत्तर-पूर्व में १,२०० मील तक यात्रा करने की योजना बनाई। उनके पास तीन स्लेजें, बीस कुत्ते, राशन और औजार थे। पेरी और उनका साथी समूर ओढकर एस्कीमो की तरह बर्फ पर सोते थे। तापमान बहुधा

शून्य से कम होता था और जब तूफान आता तो वह बचाव लिए खोहो मे घुस जाते थे ।

वे चलते-चलने ५,७०० फुट की ऊंचाई पर पहुँचे गये, ज[illegible] से फिर पूव की ओर ढलान प्रारम्भ हो गई ।* २६ जून को [illegible] ऐसी जमीन दिखाई दी, जहाँ से वर्फ पिघल चुकी थी ।

पहली जुलाई को उन्होने बर्फ के भीतर एक वडी उपत्यका मे चलना प्रारम्भ किया । हवा इतनी गरम हो गई कि उससे कष्ट होता था । उपत्यका मे उन्हे नील गाएँ दिखाई दी । उन्होंने उनको गोली का शिकार बनाकर अपने और अपने कुत्तो के लिए भोजन जुटाया ।

पूव दिशा मे पेरी ने जो समुद्र का टुकडा देखा था, उसका नाम उन्होने स्वतन्त्र खाडी रखा । उत्तर मे धरती, पहाड और ग्लेशियर दूर दूर तक फैले थे, जिन्हें इन्सान ने पहले कभी नही देखा था । इस स्थान का नाम अब पेरीलैण्ड पड गया है । पेरी ने अपनी डायरी में लिखा था—"हमारे चारो तरफ धूप थी और जिन चट्टानो पर हम खडे थे उनमे पोस्त के पीले डोडे उगे हुए थे तथा हमारे पीछे उपत्यका में नील गाएँ थी । इसी उपत्यका मे मैंने नीचे अपना चिरपरिचित पौधा 'डैडेलियन' देखा, जिस पर फूल खिले थे । गोली की-सी तीव्रता से उडान भरता एक पक्षी देखा और मधु-मक्खियो की भनभनाहट सुनी ।"

उस दिन उस स्थान का तापमान ७० डिग्री था और यहाँ यहाँ से उत्तरी ध्रुव की दूरी ५०० मील से कुछ ही अधिक थी । गरमियो में यहाँ जब सूर्य चमकता है तो उत्तर की इस धरती

ग्रीनलैण्ड में बहुत-से फूल और कीड़े-मकोड़े पाये जाते हैं।

एक बार पेरी ७,००० फुट की ऊँचाई पर पहुँच गये थे, जहाँ वह तूफान के कारण ६० घण्टे तक रुकने को विवश हुए। वह इस समय तक की बड़ी-से-बड़ी यात्रा स्लेज द्वारा करके अपने कैम्प में सुरक्षित लौट आये। १,२००० मील से भी अधिक की यात्रा उन्होंने बर्फ के भीतर की और कई नये स्थानो का पता लगाया। उनकी इस सफलता से उन्हें बड़ी ख्याति मिली और भावी कार्य की नींव सुदृढ बनी। खोज वाली इस यात्रा को ध्रुव तक पहुँचने की यात्रा से कही अधिक महत्व प्राप्त है।

इसके उपरान्त उन्हे कई वर्षों तक असफलताओ का सामना करना पड़ा, पर उन्होने हिम्मत नही हारी।

जून, १८६३ में पेरी ने फिलाडेलफिया से ग्रीनलैण्ड की अपनी दूसरी यात्रा के लिए प्रस्थान किया। श्रीमती पेरी इस बार भी उनके साथ थी और वह गर्भवती थी। उन्होंने १२ दिसम्बर को ग्रीनलैण्ड में पहले बच्चे—लड़की को जन्म दिया। इस बार पेरी अपने ध्येय में असफल रहे। उन्होने सबसे बड़ी गलती यह की कि अपने साथ ६० आदमी और ले लिये। जब उनकी पत्नी १८६५ में अमरीका लौटी तो पेरी के साथ केवल दो व्यक्ति—माट हेसन और हफ जे० ली रह गये थे। हेसन बड़ा साहसी पुरुष था। वह काली जाति का था, निकारागुआ में पेरी का नौकर था और अब उत्तर की यात्रा में कुत्तो का अच्छा कोचवान बन गया था।

पहली अप्रैल, १८६५ को पेरी, हेंसन और ली पुन 'इंडिपेंडेंस (स्वतन्त्र) खाड़ी' की ओर बढ़े। वे सामान सहित स्लेजों

पर बैठकर भीतरी भाग में एक ऐसे स्थान पर पहुँचे जो समुद्र से ६,५०० फुट की ऊँचाई पर था। यहाँ पहुँचते ही ली और उनके कुत्ते बीमार पड़ गये। लेकिन उन्होंने साहस न छोड़ा और आगे बढ़ने का निश्चय किया। पेरी का कवि हृदय इन शब्दों में बोल उठा—"तब मैंने महसूस किया, जैसा कि मैं अब भी कर रहा हूँ, बड़ी देर सोच-समझ के बाद हमने जीवन-प्याले को हाथों में ले लिया, वह प्याला एकाएक चटक गया।"

इंडिपेंडेंस खाड़ी के समीप पहुँचने पर उन्हें बड़ी संख्या में नील गाएँ मिली और उन्होंने उनका शिकार कर पेट भर माँस खाया। यह माँस उन्होंने अपने उन कुत्तों को भी खिलाया जो बीमारी के बाद बच रहे थे। पेरी ने मौसम सुहावना होने पर एक बड़े पर्वत और उत्तर की ओर धरती को देखा। इस यात्रा में उन्हें दो वर्ष लगे और उनके सारे कारतूस समाप्त हो गये। वह और उनके साथी लौट आये। उनकी ६०० मील की इस यात्रा में स्लेजें टूट गईं जो दोबारा बनानी पड़ी। लेकिन ली इतना अधिक बीमार हो गया कि वह चल नहीं सकता था। उसने पेरी और हेंसन से कहा—"तुम जाओ और मुझे रहने दो।"

पेरी का हृदय भर आया, वह बोले, "या तो हम सब घर पहुँचेंगे या फिर हममें से कोई भी नहीं!" पेरी की सेवा और दवाइयों से ली दूसरे दिन चलने के योग्य हो गया। प्रति दिन २० मील के लगभग यात्रा करते हुए वे चट्टानों और खाड़ियों

को पार कर जैसे तैसे पश्चिम तट तक पहुँचे । यह कम आश्चर्य में डालने वाली बात नही कि पेरी ने अपने अंतिम कूच में एक खाडी पर के बर्फ के पुल को अर्धजागृति अवस्था मे पार किया। ली और हेसन को महसूस हुआ कि उनका नेता वर्फ के गढढे में गिरने हो वाला है । यह आवेश इतना अधिक था कि ली ने राइफलो से कारतूर निकाल दिये, ताकि पेरी कही स्वय को गोली न मार बैठे ।

पेरी अपनी यात्राओ से वापसी मे कुछ अद्भुत टूटे हुए तारे (उल्का) भी अपने साथ लाये थे, जो अब न्यूयार्क के अमरीकन 'म्यूजियम आफ नेचुरल हिस्ट्री' में सग्रहीत है ।

सन् १८९५ की यात्रा की असफलता के पश्चात् पेरी ने ग्रीनलैंण्ड की बर्फ पर चलकर ध्रुव तक पहुँचने का विचार ही त्याग दिया ।

पेरी ने फिर उत्तर की ओर जाने का निश्चय किया । सन् १८९८ की बात है, जब अमरीका और स्पेन में युद्ध छिडा हुआ था । पाच साल के लिए पेरी को नौसेना से छुट्टी दे दी गई । जब वह केन के दोआबे पर गये तो बर्फ की तह इतनी मोटी थी कि उसे पार करना कठिन था । अत वह ग्रिनेललैण्ड के दक्षिण में दूरस्थ डीउविर्ले के अन्तरीप में सर्दी व्यतीत करने पर विवश हुए ।

ग्रीनलैण्ड के पश्चिम में द्वीप समुद्र की गहरी खाडियो के कारण तीन भागो मे बँट गया है—दक्षिण भाग को इलस्मियर द्वीप, मध्य भाग को ग्रिनेललैण्ड और उत्तरी भाग को, जिसे

पेरी ने खोजा, ग्रांटलैण्ड कहा जाता है। सम्पूर्ण द्वीप का नाम भी इलस्मियर द्वीप है। पेरी ग्रांटलैण्ड के ऊपरी भाग में फोर्ट कानर तक की २५० मील की दूरी पांच दिन मे तय करना चाहते थे, लेकिन दबाव से बर्फ का पहाड़-सा बन गया। जैसा कि आप जानते हैं, पानी जब जम जाता है तो फैलता है और अधिक स्थान घेरता है। समुद्र की खाड़ी में बर्फ एक सीमित स्थान में थी, इसीलिए जब वह जमी तो बाहर की ओर फैलने का प्रश्न ही पैदा नही होता, अतएव टूटकर अम्बार-सा बन गई। अनेक बार इस अम्बार की छोटी पहाडी भी सौ-डेढ सौ फुट ऊँची होती थी।

पेरी थके-मांदे अन्धेरे और सर्दी में टूटी हुई बर्फ के अन्तिम अम्बार को पार कर फोर्ट काजर की सूनी झोपडी, जो एक अन्य खोज करने वाले ने प्रयोग की थी और वहां कुछ राशन भी छोड दिया था, में पहुँचे। उन्हे आशा थी कि कुछ खाने-पीने को मिलेगा, लेकिन राशन इतनी लापरवाही से छोडा गया था कि उसमे से अधिकाश बिगड गया था।

यहां पहुँचने पर पेरी के पाँव जम गये। वह समूर ओढकर एक तख्ते पर लेट जाने के लिए विवश हो गये और एस्कीमो अँधेरे में माग टटोल-टटोल कर कुछ खाने को खोल रहे थे। पेरी के पाव गल गये थे, इनमें पीडा हो रही थी। उन्होने महसूस किया कि अब उनकी अँगुलियाँ झड जायेंगी। दर्द की अधिकता के कारण वह उठ नही सकते थे। उनके एक साथी ने पेरी से कहा, "तुम्हारे पाँव जम गये थे, कमाण्डर! क्या आपने यह नही सोचा कि यदी अँगुलियाँ झड जाने से इन्सान जीवन भर के लिए

अपाहिज हो जाता है ?"

पेरी का उत्तर था—"कुछ समय तो मुझे इसका पश्चाताप रहा, परन्तु दूसरी विपत्तियो की तुलना में यह इतनी छोटी विपत्ति थी कि मैं इसको भूला रहता था, जब कि मेरे अपाहिज पाँव इसकी याद नही दिलाते थे।" यह उस साहसी पुरुष के शब्द थे जो अँधेरी झोपडी मे छ सप्ताह तक विवश और लाचार केवल कमर के बल लेटा रहा। एक दिन लेटे-लेटे ही उन्होंने झोपडी की दीवार पर अपने नाखूनो से लिखा—"मैं रास्ता ढूढूंगा अथवा बनाऊंगा।"

तब एस्कीमो ने उन्हे स्लेज पर रखा और टूटी हुई बर्फ पर २५० मील तक खीचते हुए जहाज पर लाये। वहाँ उनकी छोटी अँगुलियो के अलावा शेष सभी अँगुलियाँ और अँगूठे काट दिये गये।

अपाहिज होने पर भी उनके काम मे कोई बाधा नही आई। वह दो महीने बाद ही १६ अप्रैल, १८६६ को स्लेज मे बैठकर फोर्ट काजर से चल पडे। कई बार उन्हे स्लेज से उतर कर लगडाकर पैदल ही चलना पडता था। एक बार लँगडाकर चलते हुए उन्होने अपने साथी से कहा—"व्यक्ति जैसा चाहे वैसा ही स्वभाव बना सकता है।" स्थानीय लोगो ने भी पेरी की यात्राओ की कठिनाइयो को आसान बना दिया और वे उन्हे बराबर सहयोग देते रहे। पेरी स्वय अपना वचन पूरा करते थे और चाहते थे कि एस्कीमो भी ऐसा ही करें। परिणामस्वरूप, भूत-प्रेत से डरने वाले एस्कीमो उनके साथ कहीं को बेझिझक चले जाते थे।

१६०० के आरम्भ मे वह फोर्ट काजर से फिर उत्तर की ओर रवाना हुए। टूटी हुई बर्फ, ग्लेशियर और बर्फ की चट्टानो के कारण ग्रीनलैण्ड के उत्तर में मार्ग दूर तक खराब था। लेकिन पेरी उत्तरी ग्रीनलैण्ड के अन्तिम छोर तक पहुँचे, जहाँ से आगे धरती थी ही नही। वह फोर्ट काजर लौट आये। वहाँ उन्होने जो झोपडियाँ बनाईं, वे इस बात का ज्वलन्त प्रमाण हैं कि पृथ्वी के इस भू-भाग को कैसे रहने के योग्य बनाया जा सकता है। उत्तर की कडाके की सर्दी और साँय-साँय चलती तीव्र प्रभजनो से बर्फ की चट्टानें बन जाती हैं, जिन्हे ठोस सिलो मे काटा जा सकता है। एस्कीमो इनसे सुगमता से अपनी झोपडियाँ बना लेते हैं। इन सिलो की एक के ऊपर एक तह लगाते जाते हैं और गुम्बदनुमा झोपडी बना लेते हैं। दरवाजे को एक बर्फ की सिल से बन्द कर लेते हैं। ये झोपडियाँ बडे-से-बडे तूफान मे भी सुरक्षित रहती हैं।

रास्ते मे लौटते हुए कुछ एस्कीमो मिले। उनसे पेरी ने पूछा,—"क्या गत वर्ष कोई जहाज आया था ?"

"हाँ," एक एस्कीमो ने उत्तर दिया।

"जहाज का कैप्टन कौन था ?"

"कैप्टन साम।"

"परिचारक कौन था ?" पेरी ने आगे पूछा।

"वृद्ध चार्ली।"

"कोई दूसरा आदमी, जिसे मैं जानता होऊँ ?"

"मिट्टी पेरी और अहनीघीटो।"

"जहाज कब वापस गया ?"

"ओह, वापस कहाँ गया ! पेयर हार्बर मे है।" एक एस्कीमो ने बताया।

अनुमान कीजिए, पेरी की क्या दशा हुई होगी, जब उन्हें ज्ञात हुआ कि उनकी पत्नी मिट्टी पेरी और बेटी अहनीघीटो उनकी बाट जोह रही हैं। पूछताछ करने पर ज्ञात हुआ कि उनका जहाज बहुत दिन हुए जम गया है, अतएव वे लौट नही सकी।

पेरी बड़ी तेजी से उनके जहाज की ओर लपके। यहाँ तक कि एस्कीमो भी बहुत पीछे छूट गये। पेरी के छ्यालीसवें जन्म-दिन पर पति-पत्नी और बेटी का सुखद मिलना हुआ। सन् १९०१ की गरमियो मे पेरी की पत्नी और बेटी राशन वाले जहाज पर दक्षिण को चली गई और पेरी ने राशन को उत्तर मे भेजना प्रारम्भ किया।

ध्रुव सागर ससार की चोटी पर बर्फ से आच्छादित एक विशाल सागर है, जिसमे अनेक धाराएँ और ज्वार भाटे हैं। पेरी उत्तर मे जिस स्थान पर जाना चाहते थे, वहाँ ज्वार भाटे की दिशा पश्चिम से पूर्व और कुछ-कुछ दक्षिण को ग्रीनलैण्ड की दिशा मे थी।

मार्च, १९०२ मे पेरी ने फिर यात्रा की और हेक्ल अन्तरीप पर पहुँचकर हेसन और चार एस्कीमो को साथ रख बाकी सभी को वापस लौटा दिया। ध्रुव सागर के छोर पर पहुँचने के लिए जहाँ से उन्हे ध्रुव को जाना था, वह पहले ही ४०० मील की यात्रा कर चुके थे। अप्रैल के पहले सप्ताह में वह उत्तर पहुँचे।

अब पेरी अपनी ग्रीनलैण्ड की यात्रा से आगे बढ आये थे, लेकिन जब निराश हो उन्हे लौटना पडा तो उन्होंने अपनी डायरी मे लिखा

"शिकार हाथ से निकल गया। मैं सोलह सालो से जो स्वप्न संजो रहा था, उसका अन्त हो गया। मैंने अपने जीवन का सर्वोत्तम संघर्ष किया है। निस्सन्देह यह सफलता है, पर मैं असम्भव को सम्भव नही बना सका।"

सन् १९०२ में पेरी अपनी यात्रा से लौटकर नौ सेना में अपनी ड्यूटी पर चले गये, दो परीक्षाएँ उत्तीर्ण कर कमाण्डर बन गये और इंजीनियरिंग में भी अच्छा काम किया।

जुलाई, १९०५ में पेरी एक नये जहाज पर, जो इसी उद्देश्य से बनाया गया था और जिसका नाम अमरीका के छब्बीसवें प्रेसीडेंट के नाम पर रूजवेल्ट रखा गया था, न्यूयार्क से रवाना हुए। आगे चलकर पेरी ने कुछ एस्कीमो भी साथ ले लिये। 'रूजवेल्ट' १८४ फुट लम्बा और ३५ फुट चौडा छोटा जहाज था। जब गिनती हुई तो उसमें ४० एस्कीमो, २० मल्लाह और २०० कुत्ते थे।

पेरी ने जहाज का वर्णन करते हुए लिखा है—"मेरे जीवन के अनुभवो में कोई अनुभव इतना सजीव और उत्साहपूर्ण नहीं है, जितना 'रूजवेल्ट' का बर्फ से टकराना और हिलना। जैसे १,५०० टन का बेडा बर्फ से टकराकर उसमें से अपना रास्ता बना रहा है।

अन्त में जहाज संघर्षो से गुजरता हुआ उत्तरी तट पर शेरीडान अन्तरीप पहुँचा और वहाँ फँस गया। जहाज वही रहा

और पेरी को अपने उत्तरी अड्डे तक पहुँचने में डेढ महीना लग गया।

यह कम आश्चय की बात नही कि इस सुदर उत्तरी भू भाग में नील गाएँ, रेंडियर और खरगोश मिलते हैं—जहाँ साल-के-साल बफ पडती है, तूफान आते हैं और कडाके की सद हवाएँ चलती हैं। यहाँ अधिकांश समय अँधेरा रहता है, ऐसे वातावरण में ऐसे शाकाहारी प्राणी जी कैसे लेते हैं!

आखिर पेरी उत्तर में ८७ डिग्री ६ तक जा पहुँचे। वह आगे जाते तो लौटते समय भूख से मर जाना पडता। जब वह अप्रैल मे लौटे तो ध्रुव से केवल १७० मील दूर रह गये थे। वह पुन वहाँ पहुँचने में असफल रहे।

जब पेरी 'रूजवेल्ट' के पास वापस आये तो रास्ते में उनकी पार्टी के आदमी भी मिल गये जो जहाज पर से आगे बढते समय रास्ता भटक गये थे। परन्तु पेरी तो कभी भी यात्रा करते थकते नही थे। वह लौटते ही नई धरती की खोज मे फिर पश्चिम को चल पडे। यह कार्य उन्होने ६०० मील की यात्रा स्लेज द्वारा करके पूरा किया। प्राय उन्हे पानी मे से ही चलना पडा था।

वे सुरक्षित घर लौट आये। पेरी ने जोब का हाथ थाम लिया, परन्तु उनके मुख से हर्षातिरेक के कारण एक शब्द भी नही निकला। बाद मे एडमिरल सिम्सबी ने, इस यात्रा के विषय मे कहा—"उत्तरी ध्रुव की खोज के इतिहास मे यह यात्रा सब यात्राओ से अधिक योग्यता और साहस भरी यात्रा है।

सन् १९०८ मे ५२ वर्ष की अवस्था मे पेरी अपनी उत्तर की अंतिम यात्रा पर गये। बीस वर्षों से वह उत्तरी ध्रुव तक

पहुँचने के लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहे थे। दो वर्ष पहले वह अपने लक्ष्य के निकट से लौट आये थे। यात्रा शुरू करने से पूर्व प्रेसीडेंट थ्योडोर रूजवेल्ट पेरी से मिलने आये तो उन्होंने कहा—"मिस्टर, प्रेसीडेंट! शारीरिक, मानसिक और नैतिक, जो भी शक्ति मेरे अन्दर है, वह मैं इस पर लगा दूंगा।"

"मुझे तुम पर विश्वास है पेरी!" रूजवेल्ट ने कहा—"और यदि यह मनुष्य के लिए असम्भव नहीं तो मुझे तुम्हारी सफलता में विश्वास है।"

जहाज ग्रीनलेण्ड से यार्क अन्तरीप पहुँचा। एटाह पहुँचते-पहुँचते उन्होंने एस्कीमो और आवश्यक कुत्ते साथ ले लिये। वहाँ से चलते समय उन्होंने लिखा—

'मेरे सम्मुख मेरा स्वप्न है, मेरा भाग्य है, और वह मंजिल है जिसकी तरफ मैं 'महान् उत्तर के निषेध के बावजूद' २३ वर्षों से बार बार आकर्षित होता रहा और बढ़ता रहा हूँ। यह जिन्दगी कुत्ते की जिन्दगी है, पर कार्य करना मनुष्य का धर्म है।"

ध्रुव से ४५० मील तक की दूरी जहाज द्वारा तय हो चुकी थी, अब बारी थी स्लेजों की। पेरी ने किसी गहरी खाड़ी खोजने के उद्देश्य से २०० मील की स्लेज-यात्रा की। उनका उद्देश्य था कि ध्रुव से १५० मील की दूरी पर कमाण्डर के पास सारी सामग्री और बढ़िया कुत्ते हों, जिससे सफलता की अधिक सम्भावना की जा सकती है।

२८ फरवरी, १९०९ को कैप्टन बौब उत्तर को चला, और लोग उसके पीछे पीछे। वे हडसन नदी पर पहुँचे और वहाँ सिर्फ तीन आदमी—पेरी, बौब और हेसन ही रह गये, शेष लौटा

दिये गये। जब वे उत्तर में ८८ डिग्री तक पहुँच गये तो बोब लौट आया। पेरी से अलग होने से पूर्व वह उत्तर में पाँच मील तक आगे आ गया, जिससे ८८ डिग्री (एक डिग्री ६० मील के बराबर होती है) तक जा पहुँचे, पर वह असफल रहा।

पेरी ने अन्तिम कूच करने के लिए सर्वोत्तम कुत्ते चुने। वहाँ से ध्रुव केवल १३७ मील दूर था। उनके और हैंसन के पास ४० कुत्ते, चार एस्कीमो और बहुत सा राशन था। चलते समय पेरी ने बोब से कहा—"यदि हम मंजिल तक पहुँच गये तो हम फिर दक्षिणी ध्रुव चलेंगे और तुम नेता होगे।"

२ अप्रेल की आधी रात के तुरन्त बाद पेरी ने अपनी ध्रुव की यह ऐतिहासिक यात्रा शुरू की। उनके ध्रुव पहुँचने से एक दिन पहले आकाश पर बादल छा गये और प्रत्येक वस्तु पर भूरी-सी रोशनी पड़ रही थी लेकिन पेरी इतनी शीघ्रता से बढ़ कि १२ घण्टे में वह ३० मील चले गये।

६ अप्रेल को अपने अंतिम कूच की समाप्ति पर पेरा को ज्ञात हुआ कि वह ध्रुव से थोड़ी दूर हैं। लेकिन थकान से उनका बुरा हाल था और उनके कदम आगे की ओर नहीं उठते थे। झोपड़ियाँ बनाई गई और कुछ घण्टे सोने के बाद पेरी की आँखें खुली तो वह फिर आगे की ओर चल पड़े। उनकी खुशी का कोई ठिकाना न रहा, जब उन्होंने अपने कोण-मापक यन्त्र से और कृत्रिम क्षितिज से सूर्य का कोण नापा तो उन्हें ज्ञात हुआ कि वह तो ध्रुव से भी आगे निकल आये हैं। वह मंजिल पर पहुँच ही गये।

६ अप्रेल १९०९ को पेरी ध्रुव पर पहुँचे। अपने अन्तिम

कूच मे उन्हे ज्ञात ही नही हुआ कि वह उत्तर को जाते-जाते कब ध्रुव से दक्षिण की ओर उस पार चल पडे। छोटा-सा भौगोलिक बिन्दु जिसे वह ढूढ रहे थे, कही उनके निकट ही था। वह कई ओर गये और इस बिन्दु को ठीक से मालूम करने के लिए सूय के कई कोण बनाये। यह सब कुछ करने के बाद निष्कर्ष निकला कि वह उसी स्थान पर हैं, जिसकी वह खोज मे थे।

पेरी ने उल्लास से अमरीका का झडा बर्फ के एक टुकडे पर गाड दिया। कुछ और झडे भी गाडे, जिनमे उनके कालिज का झडा भी था। एस्कीमो ने तालियाँ बजाई। रिकार्ड भरकर बर्फ मे एक बोतल दबाई गई।

पेरी ने और उनके साथियो ने ध्रुव पर तीन घण्टे व्यतीत किये। फिर पेरी ने विश्व के इस सर्वोच्च बिन्दु से अपनी पत्नी के नाम एक पत्र लिखा।

यह छोटा-सा दल कोलम्बिया अन्तरीप की ओर लौट चला। जब वे चले तो पेरी को बहुत कम आशा थी कि वे वहाँ तक पहुँच सकेंगे। वह सोचते, क्या उन्हे अपनी सफलता की बात ससार को कहने का अवसर मिलेगा ?

२२ अप्रैल को वे सुरक्षित ग्राटलैण्ड पहुँच गये। एस्कीमो उल्लास से भरकर नाचने लगे। ओटाह ने अपनी स्लेज मे थककर लेटते हुए कहा, "शैतान सो रहा है या अपनी स्त्री से लड-झगड रहा है, वरना हम इतनी आसानी से लौट नही सकते थे।"

इस यात्रा के कारण पेरी कुछ दुबल हो गये थे और उनका वजन तीन पौड कम हो गया था, लेकिन अपनी सफलता के कारण वह बडे प्रसन्न थे। जब वह जहाज के निकट पहुँचे तो

बीव दौड़कर उनके पास आया और उनका हाथ पकड़ कर बधाई दी।

१८ जुलाई को जहाज शेरीडन अन्तरीप से रवाना हुआ और आखिर न्यूयार्क पहुँच ही गया।

इस महान ध्रुव-यात्री, पेरी को उनकी सफलता के कारण नौसेना मे रियर एडमिरल का पद प्रदान कर सम्मान दिया गया और विदेश मे भी उन्हे अनेक प्रकार से सम्मानित किया गया। ससार मे जो कुछ भी आजकल हम देखते हैं ऐसे साहसी पुरुषो के परिश्रम और लगन के कारण ही सम्भव हो सका है, जिन्होंने सदैव असम्भव को सम्भव बनाया है।

शेरपा तेनसिंह



"जो सफलता की घड़ी में असफल लोगों को अर्घ्य देना भूल जाता है, उससे बढ़कर कृतघ्न कोई नहीं।"

— तेनसिंह

एवरेस्ट विजेता तेनसिंह पूर्वी नेपाल के सोलोखुम्बू जिले में खुमजुन गाँव में १९१७ में एक अति निर्धन परिवार में उत्पन्न हुए थे। एक बार स्वयं तेनसिंह ने ही यह कहा था—"बहुधा मेरे पिताजी मुझे एवरेस्ट की कुहरों से घिरी हुई चोटी की ओर संकेत कर कहते थे कि वहाँ चोमोलुग्मा (वायु की माता) रहती है। मैं बहुत निर्धन था। सोलोखुम्बू में सभी लोग निर्धन थे। एक मकान था, कुछेक याक पशु थे, बस यही सारी सम्पत्ति समझो। सोलोखुम्बू में निर्धनता थी, फिर भी शेरपाओं के जन्म के लिए यह एक आदर्श स्थान था, क्योंकि सर्दियों में यहाँ तापमान शून्य से नीचे रहता है। यूरोप में इतने तापमान वाले अनेक स्थान हैं और वहाँ सभ्यता है, सुविधाएँ हैं और उनकी दशा कुछ और ही है। लेकिन यहाँ क्या था, कभी थोड़े से कोयले मिल गये तो गरमी आ गई, नहीं तो जैसे भी बन पड़ा वैसे ही-

सी सी करते सिकुडे हुए पडे रहते। कुत्ता बार-बार बच्चे के कम्बल मे घुस आता है। यदि गृहणी की मानसिक दशा ठीक है तो वह इस पर हंस देती है, नही तो जो भी चीज मिली उसे फेंककर कुत्ते को मारती है।"

शेरपाओ का पहले एकमात्र काय तिब्बत के साथ व्यापार करना था। वे कष्ट तो उतना ही सहन करते थे, जितना पर्वतारोहण मे होता है, तो भी व्यापार व्यापार है और खेल खेल। जब से पश्चिम से पर्वतारोही इधर आने लगे हैं तब से शेरपाओ की स्थिति मे सुधार हो गया है और प्रत्येक शेरपा बालक यह कल्पना करने लगा है कि वह भी कभी इन गोरी चमडी वाले साहबो के साथ जायेगा, पर्वतो की चोटियो पर चढेगा और पुरस्कार प्राप्त करेगा।

सोलोखुम्बू के शेरपा दिन-प्रति दिन अत्यधिक ख्याति प्राप्त कर रहे थे। परन्तु तेनसिंह को अभी तक न तो कोई अनुभव था और न किसी प्रकार की दूसरी सुविधा। उन्हे ऐसा प्रतीत होता था कि शायद उनके जीवन का स्वप्न—एवरेस्ट के ऊपर पहुँचना—अधूरा ही रह जायेगा।

१९३३ मे वह घर से भाग निकले और दार्जिलिंग शहर मे जा पहुँचे, जहाँ से सभी हिमालय-अभियानो की योजना बनाई जाती है। उन्होने दार्जिलिंग मे ही विवाह भी कर लिया और अब उन्हे हिमालय पर जाने वाले कुलो का काम भी खूब मिलने लगा। स्वप्न साकार होने की आशा बढ चली।

तेनसिंह ने अच्छी तरह से अभी पर्वतारोहण का काय भी प्रारम्भ नही किया था। १९३५ की बात है जब कि गोरी जाति

के लोग हिमालय की सर्वोच्च चोटी पर चढने का प्रयास कर रहे थे। पहले इस चोटी की ऊँचाई २९,००२ फुट पाई गई थी। पर अब जो नाप जोख की गई है उससे विदित हुआ है कि इसकी वास्तविक ऊँचाई २९,२०० फुट है। १९२२ मे कुछ लोग २७,१४० फुट तथा २७,४७५ फुट तक पहुँच गये थे। इसके बाद भी प्रयत्न जारी रहा और १९२४ मे नाटन नाम का एक पर्वतारोही २८,२८५ फुट तक पहुँच गया।

शेरपा तेनसिंह को १९३५-३६ मे शिप्टन और रूटलेज के साथ पहले अभियान मे जाने का अवसर प्राप्त हुआ इसमे पार्टी २४,००० फुट की ऊँचाई तक पहुँचकर लौट आई। निष्कर्ष यह निकला कि उत्तर से एवरेस्ट को जो मार्ग है वह वर्षा ऋतु की दृष्टि से एकदम बेकार है। इस तरह उनका अभियान व्यर्थ गया।

१९३८ मे एरिक शिप्टन नामक एक पर्वतारोही इस कठिन काम की ओर बढा। उस समय तक जितने पर्वतारोहियो ने इस क्षेत्र मे प्रयास किया था, उसने उनकी असफलताओ पर गौर किया। वे सभी पर्वतारोही अपने काम मे साहसी और निपुण थे, इसलिए उसने यह माना कि अवश्य कोई ऐसी अलघ्य बाधा आई होगी तभी वे, असफल हुए। जब सिलसिलेवार उनकी यात्राओ की डायरियो का अध्ययन किया गया, तो ज्ञात हुआ कि वे सब लगभग एक ही स्थान पर जाकर अटक गये थे और मजेदार बात यह रही कि वे शायद इस बात को समझते भी नही थे। शिप्टन ने अनुमान लगाया कि उन्हे जिस उत्तर-पश्चिम भाग से जाना था, उस पर धूप देर से आती थी। यदि

अभियान पहले आरम्भ किया जाता है तो यह भय रहता है कि पर्वतारोही कही बर्फ मे वही न जमकर रह जायें और यदि वे सूर्य की रोशनी की प्रतीक्षा करते हैं तो अभियान पूरा नही होता और रात हो जाती है। शिप्टन इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि इसी कारण से अब तक के सब प्रयास असफल हुए है।

१६२२ मे सात शेरपा एक तुषारखण्ड के नीचे दब गये थे। १६२४ मे दूसरा शेरपा मानबहादुर भी इसी क्षेत्र मे मर गया। ठण्ड से उसके दोनो पाँव जम गये थे, अतएव उन्हे काटना आवश्यक हो गया था, जिसे वह सहन नही कर सका और मर गया। एक गुरखा अफसर मस्तिष्क के भीतर रक्तस्राव से मर गया था। उन्ही दिनो इरविन और मालौरी नामक दो पर्वतारोहियो का कुछ पता ही नही चला कि वे कहा गये। मौरिस विल्सन का भी रहस्यपूर्ण परिस्थितियो मे इसी क्षेत्र मे अन्त हुआ था। एवरेस्ट १२ व्यक्तियो की आहुति ले चुका था। १६३१ मे डॉक्टर कैलास की पहला तिब्बती दर्रा पार करते हुए हृदय की गति रुक जाने से मृत्यु हो चुकी थी। इन सबका अध्ययन कर एरिक शिप्टन ने जो निष्कर्ष निकाला, वह था—एवरेस्ट पर मनुष्य कभी विजय प्राप्त नही कर पायेगा।

१६३७ मे तेनसिंह को एक अन्य काम मिल गया और वह सर्वे आफ इण्डिया के मेजर ऐशमहन के साथ गढवाल गये। परन्तु, एक तो यह कार्य कुछ ही दिनो का था, दूसरे, इस काम मे उनकी तबीयत नही लगती थी।

१६३८ मे वह टिलमैन के साथ फिर एक बार एवरेस्ट की ओर चल पड़े। अभी वह एक कुली के रूप मे ही थे। टिलमैन

ने उनके विषय मे अपनी डायरी में लिखा था—"वह तरुण, जागरूक, तगडा और बहुत ही प्रिय था।" इस अभियान में पहले की अपेक्षा ५०० फुट आगे तक पहुँचे और टिलमैन एवं तेनसिंह रोगबक ग्लेशियर के ऊपर से होते २४,५०० फुट तक पहुँच गये।

इसके उपरान्त जून के महीने मे पश्चिम की ओर से एक और अभियान हुआ। ६ जून को उन्होंने अपना २५,६०० फुट तक पहुँचने का रिकार्ड स्थापित किया। इस मौके पर तेनसिंह ने अपनी शारीरिक शक्ति का जो उदाहरण प्रस्तुत किया, उसके विषय मे टिलमैन ने लिखा है—"जब वे २५,६०० फुट वाले अपने स्थान पर पहुँच चुके तो अचानक याद आया कि एक बण्डल पीछे छूट गया है। तेनसिंह छ-सात सौ फुट नीचे उतरे और फिर सामान लेकर वही पहुँच गये। यह स्मरणीय है कि इतनी ऊँचाई पर विशेषकर एवरेस्ट पर एक-एक फुट चढना बहुत कठिन कार्य है। वह तगडा और सजीव तो था ही, साथ ही बहुत नि स्वार्थी भी था।"

१६३६ मे जब सर्वप्रथम हिमालय क्लब ने शेरपाओं की छाँट की तो उसमे यह तय हुआ कि जो लोग २५,००० फुट से ऊपर तक शेरपा का काम कुशलता से कर चुके हैं, उन्हें शेर का बैज दिया जाये। इसके अनुसार जो पहले १२ व्यक्ति चुने गये, तेन्सिंह उनमे से एक थे। यह उनके लिए एक बहुत बडा सम्मान था।

१६३६ मे तेनसिंह तिरिचमी अभियान में सम्मिलित हुए

और उसके पश्चात् लगभग पाँच वर्ष तक वह चितराल और गिलगित मे रहे। दार्जिलिंग मे लोग उन्हें भूलने भी लगे। १९४५ मे वह पुन दार्जिलिंग पहुँचे। वहाँ पहुँचते ही उनकी सेवाओ की माँग बढी और १९४६ मे किरसुप साहब के साथ सिक्किम गये। इसके बाद एक बार फिर एवरेस्ट की ओर जाने का अवसर मिला। वह डेनमैन के साथ १९४७ मे एवरेस्ट गये, पर इसमे इन्हे उल्लेखनीय सफलता नही मिली। १९४७ मे ही गगोत्री गये और १९४८ मे इटली के विख्यात भारत-विशेषज्ञ अध्यापक तुकची के साथ ल्हासा गये। तुक्ची की रुचि पर्वता-रोहण मे नही थी, बल्कि पुस्तको मे थी। इस यात्रा के परिणाम स्वरूप उनको ४० मन के लगभग ग्रन्थ प्राप्त हुए।

एक दिन पार्टी के एक अफसर ने तेनसिंह से पूछा, "क्या तुम सोचते हो कि इन्सान कभी एवरेस्ट को जीत सकेगा ?"

"इन्सान से लिए कुछ भी असम्भव नही, यदि वह कोशिश करता रहे तो अवश्य सफल हो सकता है !" सक्षिप्त-सा उत्तर था।

१९४९ मे एक बार फिर तेनसिंह का साथ टिलमैन से हुआ, लेकिन इस बार टिलमैन ने एवरेस्ट पर चढने के बजाय छोटी-छोटी चोटियों पर ही चढाई की। १९५० मे तेनसिंह गिब्बन के साथ गये और २१,००० फुट वाली चोटी बन्दरपूछ तक सफलतापूर्वक चढ गये।

तेनसिंह अब तक अनेक अभियानों में भाग ले चुके थे,

लेकिन उनके कथनानुसार उनके जीवन का सबसे भयावह अभियान था—नन्दादेवी का अभियान। १९५१ में वह इस अभियान मे गये। इस यात्रा में जिल्बर वीन्य और रोजर-दिप्ला नन्दादेवी की ओर बढते हुए पता नही कहाँ गायब हो गये। तेनसिंह २३,००० फुट की ऊँचाई पर थे, जब उन्हे नीचे से यह खबर मिली कि इन दो साहबो का पता नही लग रहा है। तब अपने साथियो की खोज मे वह और दिवोस्त खतरनाक और कठिन चढाई करते हुए चोटी पर गये। तेनसिंह के शब्दो मे इसका वर्णन इस प्रकार है—"दोनो तरफ से बहुत अधिक ढलान है, मैं एक-एक इंच करके चढ रहा था, न तो कुछ पकडने को था और न पैर रखने की कोई जगह थी। बर्फ मे बहुत ज्यादा फिसलन थी। आक्सीजन जम गया था, बिलकुल काम नही कर रहा था। तब मैंने पम्प वही छोड दिया और आगे बढने लगा।"

तेनसिंह की हिम्मत और बहादुरी देख उनके फ्रांसीसी साहब विस्मित रह गये। अन्त तक बहुत थक गये, यहाँ तक कि उनके पैरों की दो अंगुलियाँ मामूली तौर पर जम गई थीं। उनकी इस वीरता से प्रभावित हो फ्रांसीसी साहब ने समोसो की माला बनाकर तेनसिंह के गले मे डाल दी क्योंकि वहाँ पर फूल मिलने का तो प्रश्न ही नहीं था। इस अभियान में दो व्यक्तियों की मृत्यु हो गई। वह स्वयं मरते-मरते बचे। वह कश्मीर के दक्षिण में जार्ज फ्रेई के साथ कोक्तंग शिखर पर चढ रहे थे, जो १९,९०० फुट ऊँचा है। २९ अक्तूबर, १९५१ को जार्ज फ्रेई के

साथ जहां वह चल रहे थे, वह जगह बहुत ढलवां थी। कुछ बर्फ जमी थी, लेकिन थी बहुत ही पतली। ऊपर एक पहाड़ी और थी जिस पर ढलान और ज्यादा था। फ्रेंई आगे-आगे चल रहे थे और तेनसिंह लगभग दस कदम पीछे थे तथा दूसरा शेरपा औग्दचा उनसे भी दस कदम पीछे चल रहा था।

अचानक फ्रेंई का पैर फिसला और वह तेनसिंह की ओर चला। तेनसिंह ने उसे बचाने की कोशिश की, परन्तु स्वयं उनके भी पैर डगमगा गये। पर उन्होंने अपनी बुद्धि से काम लिया और हाथ में बर्फ काटने वाली कुल्हाडी को मजबूती से पकड़े रहे, बल्कि यह कोशिश की कि उसके सहारे फ्रेंई को गिरने से बचा लें। पर वह ऐसा न कर सके, उल्टे दूसरे शेरपा औग्दचा से जा टकराये। तीनों लुढकने लगे, लेकिन भयंकर ढलान पर पहुँचने से पहले ही तेनसिंह संभल गये और उन्होंने अपने प्राणों की बाजी लगा कर औग्दचा को भी बचा लिया। जार्ज फ्रेंई को वह न बचा सके और वह १,४०० फुट नीचे गिर-कर मर गये। इसके पश्चात् तेनसिंह और औग्दचा एक-दूसरे से बँध कर बड़ी मुश्किल से नीचे उतरे।

१९५२ में स्विस पर्वतारोही एवरेस्ट पर विजय पाने के लिए बढे। इस अभियान में भी तेनसिंह साथ थे। यह अभियान पर्याप्त सफल रहा और दल के लोग लोतो ग्लेशियर तक पहुँच गये। २९ मई को लेम्बर्ट, फ्लोरी, ओबर्ट, तेनसिंह और कुछ शेरपा एवरेस्ट पर जाने के लिए तैयार हुए। दो शेरपा २५,२०७ फुट तक पहुँचने में सफल हुए। आगे जाने की बात

सोच ही रहे थे कि भयकर बर्फीली आँधी आ गई और दल के सदस्य एक छोटे से सुरक्षित स्थान पर एक-दूसरे से बँधे आँधी के वेग के कम होने की बाट देखते रहे। वह डर के कारण हिल-डुल भी नही रहे थे कि कही एक इच को हिलने की गलती के कारण आँधी उन्हे उखाड फेंके और फिर उनकी हड्डियो का भी पता न चले। ऐसे समय मे भी तेनसिंह ने बडी वीरता दिखाई और साहस से काम लिया। उन्होंने इस आँधी मे ही दूसरे तम्बू वालो को चाय और खाना पहुँचाया।

सबेरे जब उठे तो थकान उतरने के बजाय और बढी हुई थी। तेनसिंह ने इस समय आश्चर्यजनक शारीरिक शक्ति का परिचय दिया। वह ऐसे प्रतीत होते थे जैसे कुछ हुआ ही नही और वहाँ सब को सहायता पहुँचाते रहे। वह नीचे गये और वहाँ से कुछ वस्तुएँ लाये। परन्तु प्रकृति तो बुरी तरह कुपित थी। वायु इतनी तीव्र थी कि लोगो मे खडे होने का साहस नही था और वे छाती के सहारे रेंग-रेंगकर चल रहे थे। तीन शेरपा बुरी तरह क्लान्त थे और अब उन्हें साथ रखना एकदम व्यर्थ था। तेनसिंह और लेम्बर्ट बडी मुश्किल से २७,५५० फुट तक पहुँच सके। उन्होंने निश्चय किया कि छोटा-सा तम्बू लगाकर रहा जाये और सुबह की राह देखी जाय। उस समय उनके पास न स्टोव था, न गद्दा, न तुसार—यात्रियो के सोने के लिए जो थैला होता है, वह था। बस बर्फ का गला हुआ पानी पीने के लिए था। वे एक दूसरे को बराबर थपथपाते रहे, ताकि रक्त-सचार होता रहे, और खून न जमने पाये। रात्रि काटना पहाड़ हो गया।

२८ की सुबह थी। वे लगभग जम चुके थे। इधर प्रकृति बहुत कुपित जान पड़ती थी—बादल घुमड रहे थे और तेज पश्चिमी हवा हड्डियों में से साँय-साँय करती पार हो रही थी। इस दशा में भी वे कुछ खाद्य और आक्सीजन लेकर आगे की ओर बढ चले। आक्सीजन से काम लेने के लिए उन्हें ठहरना पड़ता और फिर आगे की ओर कदम बढ़ाते। उनको प्रत्येक तीसरे कदम पर ठहरना पड़ता। यह थी उनकी गति। और इसी दशा में वे २८,२१५ फुट पर पहुँच गये, जो अब तक की सबसे महान् सफलता थी। यदि आक्सीजन ठीक काम करता और वे इतने थके न होते तो यह निश्चित था कि वे और आगे बढ़ते। इस अभियान से लौटने के बाद तेनसिंह बहुत समय तक बीमार रहे।

एवरेस्ट की चढाई कितनी कठिन और भयानक है, इसे वही जान सकते हैं, जो पर्वतारोहण करते हैं। बादलों से भी ऊँचे उस शिखर के समीप ऋतु भी अस्थिर रहती है। आँधी, वर्षा, तूफान हिमपात और कड़ी धूप निरन्तर एक दूसरे का स्थान लेते रहते हैं। वहाँ की शुष्क हवा में समुद्री धरातल की अपेक्षा एक-तिहाई भाग आक्सीजन ही होता है और पर्वतारोहियों को कृत्रिम आक्सीजन को इस्तेमाल करना पड़ता है। परन्तु इसके बावजूद शरीर एक विचित्र दुर्बलता का अनुभव करता है और लगता है जैसे हाथ-पाँव अचेत हों। जूते का फीता बाँधने जैसा मामूली काम भी जवान आदमी को थका देता है। शीत और हिमपात के कारण चेहरा और होंठ नीले हो जाते हैं और अँगु-लियाँ बर्फ से गलने लगती हैं। बर्फ पर चमकती धूप के कारण

कभी कभी आदमी अन्धा तक हो जाता है, और एक के स्थान पर दो वस्तुएँ दिखाई पडने लगती हैं। इतना ही नही, दाँत गिर जाते हैं और गला बैठ जाता है। शरीर की तरह ही मन भी विकृत हो जाता है। आदमी चिडचिडा हो जाता है और कोई-कोई तो विक्षिप्त हो जाता है।

इन अनेक प्रकार की मानसिक और शारीरिक कठिनाइयो के होते हुए भी साहसी पुरुष एवरेस्ट विजय के प्रयत्न निरन्तर करते रहे। ग्यारह चढाइयो की असफलता के पश्चात् अन्त मे बारहवी टोली ने प्रकृति पर और सामने आने वाली समस्त कठिनाइयो पर विजय प्राप्त की। इस दल के नेता थे, कर्नल हृट और इसका सगठन किया गया था, इग्लैण्ड के ब्रिटिश हिमालय-क्लब के द्वारा। पर्वतारोहण की कठिनाइयो और अपने पूवगामी दलो के अनुभवो के आधार पर हृट-दल ने नवीनतम वैज्ञानिक उपकरणो को जुटाया था। स्वय तेनसिंह ने, जो इसके पहले के लगभग सभी महत्वपूण पर्वतारोहण मे भाग ले चुके थे, कहा है कि इतनी बढिया तैयारी अभी तक किसी दल ने नही की थी।

इस बार तेनसिंह की स्थिति कुली की नही थी, बल्कि वह अभियान दल के एक सदस्य ही बना लिये गये थे।

यह भी स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लिया गया था कि यदि चोटी के ऊपर पहुँचने के अन्तिम प्रयास मे वह यह अनुभव करें कि वह चोटी पर पहुँचने और वापस आने मे समर्थ हैं और उनका साथी लडखडा रहा है तो वह अकेले ही बढ जायें और ऊपर पहुँचने का प्रयत्न अवश्य करें।

१० मार्च को यह दल काठमांडू से एवरेस्ट की ओर चला। इसमे सदस्यो के अलावा १६२ कुली और १७ शेरपा भी थे। प्रत्येक कुली को ६० पौंड सामान ढोने के लिए दिया गया था। काठमांडू से एवरेस्ट लगभग २७२ किलोमीटर दूर है। यह तय किया गया था कि चोटी तक पहुँचने के लिए रास्ते मे आठ कैम्प लगाये जायें, जिसमे अन्तिम ७६२० मीटर की ऊँचाई पर हो और इसी आठवें कैम्प से चोटी पर पहुँचने का अन्तिम प्रयास किया जाये।

मई मास आरम्भ होने से पहले ही दल के प्रमुख सदस्य ७०१० मीटर की ऊँचाई पर स्थित कैम्प मे पहुँच गये। कर्नल हृट ने अन्तिम चढाई के लिए दो-दो व्यक्तियो की दो टुकडियाँ बनाईं—पहली मे इवास और बोर्डिलन थे तथा दूसरी मे हिलेरी और तेनसिंह। २६ मई को पहली टुकडी ६८१६ मीटर की ऊँचाई तक पहुँचकर वापस लौटने पर विवश हो गई। इससे पहले कोई पर्वतारोही इतनी ऊँचाई तक नही पहुँच सका था।

उस समय हिलेरी और तेनसिंह ८३३६ मीटर की ऊँचाई पर स्थित पडाव मे थे। वे रात पडाव मे बिता कर सबेरे आगे बढना चाहते थे, लेकिन मौसम ने रात्रि मे ही बडा भयानक रूप धारण कर लिया। २७ मई को भी तूफान के प्रचण्ड वेग से चलने के कारण वह रात भी इन्हें वही व्यतीत करनी पडी।

२८ मई को प्रातःकाल १० बजे ये दोनो साहसी वीर अपना-अपना सामान पीठ पर लादकर निकल पडे। तीसरे पहर ८५०३ मीटर की ऊँचाई पर १८ मीटर लम्बी और ६ मीटर चौडी ऊपर-नीचे की दो टुकडियों पर अपना कैम्प लगा दिया।

उस रात्रि का तापमान बर्फ के तापमान से भी २७ अश कम था। सवेरा होते होते मौसम खुल गया तो वे दोनो साढे छः बजे तम्बू से बाहर निकल आये। तेनसिंह और हेलरी के सामने एवरेस्ट का दक्षिणी भाग था। वे उस ओर बढे, लेकिन मार्ग बडा खतरनाक था। थोडी-सी ऊँचाई चढने के लिए बहुत चक्कर लगाकर जाना पडता था और कही-कही तो आगे बढने के लिए चाकू की धार के समान सकरी जगह पर पैर रख कर सरकना पडता था। उनसे शिखर केवल १२२ मीटर ऊपर रह गया था।

दोनो बडे उत्साह से चढने लगे कही-कही आगे बढने के लिए कुल्हाडी से बर्फ काटकर सीढियाँ बनानी पडती थी। कही-कही बर्फ कार्निस की तरह आगे का निकली हुई थी, लेकिन प्राण हथेली पर रखकर दोनो बराबर बढते ही गये। दोनो ने परस्पर अपने को एक रस्सी से बाध लिया था। कभी हिलेरी आगे बढते थे, कभी तेनसिंह। बढते-बढते उनमे अब शिखर १२ मीटर ऊपर रह गया था।

यह १२ मीटर की अन्तिम चढाई सबसे अधिक खतरनाक थी। पर्वत का यह भाग बिलकुल सीधा खडा था। इसमे कही कोई पकडने या हाथ-पैर टेकने योग्य स्थान न था। एक दरार से होते हुए वे एक-एक सेंटीमीटर आगे बढ रहे थे। बर्फ काट कर बढना जरूरी था और ऊँचाई पर बर्फ काटना हँसी-खेल नहीं था। तनिक से परिश्रम से साँस फूल जाती है। दोनों आदमी धैर्य और साहस के साथ आगे बढते गये और अन्त में सफलता ने उनके चरण चूमे।

ठीक साढे ग्यारह बजे तेर्नासिंह शिखर पर पहुँच गये और उसके बाद हिलेरी। दोनो बडे उल्लास के साथ गले मिले। उन्हें उनको मजिल मिल गई थी। ससार की सर्वोच्च चोटी पर भारत, नेपाल, ब्रिटेन तथा सयुक्त राष्ट्रो के झण्डे फहराये गये। हिलेरी ने झण्डा लगाते हुए तेर्नासिंह के तथा आस पास के कई फोटो उतारे। चारो ओर फैला हुआ हिम का साम्राज्य धूप मे चमक रहा था। जैसे इन वीरो की सफलता पर प्रसन्नता प्रकट कर रहा हो।

तेर्नासिंह ने साथ ही एक स्कार्फ भी हिलाया जो अपने गत वष के साथी लेम्बर्ट की असफलता की स्मृति मे था। प्रत्येक सफलता के पीछे कितनी ही असफलताएँ होती है। तेर्नासिंह के मुख से अस्फुट वाणी मे जो शब्द निकले, वे कुछ ऐसे थे—"जो सफलता की घडी मे असफल लोगो को अर्घ्य देना भूल जाता है, उससे बढकर कृतघ्न कोई नही है।" तेर्नासिंह कुछ क्षण चुप रह कर फिर बोले—"मैने बचपन मे एवरेस्ट-विजय का एक प्यारा सा स्वप्न सँजोया था, देखता हूँ, आज वह पूरा हो गया है। ससार मे ऐसी कोई चीज नही जो इसान के लिए अजेय हो।"

वे ससार की सर्वोच्च चोटी पर १५ मिनट तक रहे और फिर तुरन्त ही उतरना प्रारम्भ कर दिया। उन्हें इस विजय की कहानी लोगो को सुनानी भी थी। उधर आक्सीजन समाप्त हो रहा था और चढने से उतरना कुछ कम विपत्तिपूर्ण नही था।

तेनसिंह और हिलेरी ने एवरेस्ट पर विजय पाई थी, पर यदि पहले की असफलताएँ न होतीं और उनसे जो ज्ञान-वृद्धि हुई, वह न होती, तो वे कैसे अपने लक्ष्य तक पहुँचते ?

यूरी गगारिन

"अन्तरिक्ष मुझे अपने घर जैसा ही लगा। मैंने वैसे ही खाया पिया, जैसे पृथ्वी पर खाता पीता हूँ। मैंने अपनी डायरी भी ठीक से लिखी। मेरे लेख में कोई अन्तर नहीं आया, यद्यपि मेरा हाथ 'भारहीन' था। भारहीनता से गुरुत्वाकर्षण की दशा में आने पर भी मुझे कोई कष्ट महसूस नहीं हुआ।"

—यूरी गगारिन



"मानव सदा पृथ्वी की परिधि में नहीं बँधा रहेगा। वह ब्रह्माण्ड और अन्तरिक्ष की खोज में पहले डरते-डरते वायुमण्डल की सीमा से परे पहुँचेगा और फिर सूर्य के चारों ओर और समूचे आकाश पर विजय प्राप्त कर लेगा।"—रूस के कालुगा नगर में एक शिला-लेख पर ये शब्द उत्कीर्ण कर अंकित किये गये हैं। यह वही जगह है जहाँ विश्वविख्यात वैज्ञानिक जियोल-कोव्स्की रहा करता था, जिसने आज से ५० वर्ष पूर्व अन्तरिक्ष-

यात्रा करने की अभिलाषा और लालसा की थी। उस समय तो इस महान् वैज्ञानिक की बात को निरी कल्पना लोक का एक स्वप्न ही माना जाता था।

अब मानव ने यह स्वप्न साकार कर दिखाया है। १२ अप्रैल, १९६१ को एक युगान्तकारी घटना घटी और विश्व के प्रत्येक वैज्ञानिक ने, राजनीतिज्ञ ने, जन-साधारण ने एक रोमांचक कहानी सुनी—"यूरी गगारिन की अन्तरिक्ष में उड़ान।" जनसाधारण को विश्वास नहीं हो रहा था, लेकिन अविश्वास करने की भी कहीं गुंजाइश न थी। २७ वर्षीय एक सजीले, सुगठित और बाँके मेजर यूरी गगारिन ने अन्तरिक्ष में १०८ मिनट तक अपने अन्तरिक्ष-यान के कक्ष में बैठ कर उड़ान भरी। तदन्तर वह सकुशल पृथ्वी पर लौट आये।

रूसी अन्तरिक्ष यात्री यूरी गगारिन की उड़ान के २३ दिन बाद ही ५ मई, १९६१ को अमरीकी नौ सेना के लेन शेपर्ड ने भी ११५ मील की ऊँचाई तक यात्रा की।

इन दोनों उड़ानों से यह सिद्ध हो गया है कि अब वह दिन दूर नहीं, जब अन्तरिक्ष यानों में अनेक यात्रियों की उड़ान, चन्द्रमा तथा अन्य ग्रहों तक मानव की उड़ान और पृथ्वी-लोक के यात्रियों के चन्द्रमा में बसने के समाचार हमें प्राप्त होंगे।

यूरी गगारिन एक ही दिन में असाधारण प्रसिद्धि और सम्मान प्राप्त करने वाले सर्वप्रथम अन्तरिक्ष यात्री हैं।

यूरी गगारिन का जन्म ९ मार्च, १९३४ को एक कृषक परिवार में हुआ था। उनका बचपन निर्धनता में ही व्यतीत हुआ। दूसरे महायुद्ध के समय, जब महायुद्ध समाप्त होने वाला था,

गगारिन परिवार ग्यात्स्क नगर मे आ बसा था। यहां पर रह कर ही बालक यूरी गगारिन ने अध्ययन किया और सारातोव के औद्योगिक स्कूल से स्नातक की परीक्षा उत्तीर्ण की। स्कूल मे जब यूरी गगारिन अध्ययन करते थे तो उन्ही दिनो उन्होने उड्डयन क्लब मे हवाई प्रशिक्षण लेना प्रारम्भ कर दिया था।

१६५५ मे वह ओरेनबुर्ग के हवाई-स्कूल मे भर्ती हो गये और प्रथम श्रेणी मे परीक्षा उत्तीर्ण की। इसके पश्चात् उनकी गणना विशिष्ट रूसी उडाको मे की जाने लगी।

गगारिन विवाहित है। उनकी पत्नी का नाम वालेनतीना गगारिना है। उनकी दो पुत्रियां—येलेना और गाल्या हैं। गगारिन का वैवाहिक जीवन बडा सुखद है और पति-पत्नी एक-दूसरे को बहुत मानते है।

यूरी गगारिन जिस नाटक के नायक बने, उनका शुभारम्भ ४ अक्तूबर, १६५७ को ही हो चुका था, जबकि सोवियत रूस ने अपना स्पुतनिक-१ छोडा था। स्पुतनिक ६४७ किलोमीटर अर्थात् ५६८ मील तक गया था और उसने ६४ दिनो मे पृथ्वी की १,४४० बार परिक्रमा की थी।

तदुपरान्त, ३ नवम्बर, १६५७ को स्पुतनिक-२ छोडा गया, जिसमें लाइका नामक कुतिया भी विद्यमान थी। लाइका अन्तरिक्ष मे जाने वाली प्रथम जीवित प्राणी थी।

स्पुतनिक-२ अनुमानत स्पुतनिक-१ से छ गुणा भारी था और उसने १६२ दिन की अवधि मे पृथ्वी की २,३७० बार परिक्रमा की। इसके बाद यह नष्ट हो गया। लाइका इसी अन्तरिक्ष यात्रा के पथ पर शहीद हो गई।

तीसरा स्पुतनिक १५ मई, १९५८ को छोड़ा गया, जो स्पुतनिक-१ से १६ गुणा भारी था।

अमरीका ने भी इन्ही दिनों कई उपग्रह छोड़े। इन सभी उपग्रहों का उद्देश्य अन्तरिक्ष की परिस्थितियों का सूक्ष्मतम अध्ययन करना था, जिससे मानव की चन्द्र-यात्रा का मार्ग प्रशस्त हो सके।

४ अक्तूबर, १९५९ को रूस द्वारा छोड़े गये अन्तरिक्ष-यान लूना-३ (रूसी मे लूना का अर्थ है—चांद) ने चन्द्रमा पर पहुँचकर उसके अदृश्य भागों के फोटो खीचे। अन्तरिक्ष यानो मे रूस ने कुत्तो को भेजा तो अमरीका ने बन्दरो को। एक ओर लाइका, स्तैल्का, बेल्का और चेतुरका थे तो दूसरी ओर एबल, बेकर और हेम थे। इनमे से कुछ जीवित बचे और कुछ का बलिदान हो गया, या वे अन्तरिक्ष-पथ में शहीद हो गये।

अमरीका ने एक वन-मानुष को भी ५,००० मील प्रति घंटे की गति से चलने वाले राकेट में भेजा। वह ११५ मील की ऊँचाई तक उड़ान भर कर वापस लौट आया।

यूरी गगारिन को अन्तरिक्ष-यात्रा के लिए प्रशिक्षण दिया गया था। गगारिन का अन्तरिक्ष यान १२ अप्रैल को दोपहर साढ़े-बारह बजे (भारतीय समय के अनुसार) उड़ा था और २ बज कर १८ मिनट पर सकुशल वापस लौट आया था। इस बीच उन्होंने कुल २५,४०० मील की यात्रा की। उनके यान की गति १८,००० मील प्रति घण्टा थी, अर्थात् पाँच मील प्रति सेकिंड। अन्तरिक्ष-यान की पृथ्वी से अधिकतम दूरी १८५ मील और न्यूनतम दूरी १०५ मील रही थी।

जिस समय यूरी गगारिन उडान भर रहे थे, सोवियत रूस की जनता टेलीविजन पर उन्हें देखकर खुशियाँ मना रही थी। यूरी गगारिन की पुत्री ने टेलीविजन पर देखते हुए खुशी से तालियाँ पीटते हुए कहा—"अहा, पापा, मेरे पापा.. !"

मेजर गगारिन ने अन्तरिक्ष यात्रा के अपने अनुभवो को मास्को के एक पत्रकार-सम्मेलन मे बताया। पृथ्वी के अद्भुत सौन्दर्य-दर्शन के सम्बन्ध मे उनके अनुभव बडे रोचक और मनोरंजक है। उन्होने बताया था—

"मेरे बार-बार अनुरोध करने पर मुझे अन्तरिक्ष यात्रा के प्रशिक्षणार्थियो मे सम्मिलित किया गया। मैंने प्रशिक्षण लिया और उसमे पूर्ण सफल रहा।" उन्होने आगे बताया, "उडान भरने से पहले मैं बिल्कुल अच्छा था, पूरी तरह से ठीक। उडान के बीच भी मैं बडे आनन्द से रहा।"

वह थोडी देर रुके और फिर बोले, "न गुरुत्वाकर्षण मे वृद्धि ने, न शोर ने, न यान के कक्षा मे प्रवेश के समय के वायु-कम्पनो ने ही मुझ पर किसी प्रकार का पीडादायक प्रभाव डाला। कक्षा मे प्रवेश और राकेट के अलग होने से भारहीनता की अनुभूति हुई, परन्तु मैं शीघ्र ही इसका अभ्यस्त हो गया।"

वह बडे उत्साह के साथ बोले, "पृथ्वी १७५ से ३०० किलो मीटर की ऊँचाई से बिल्कुल स्पष्ट दिखाई देती है। आप पर्वत-श्रेणियो नदियो, द्वीपो, समुद्री किनारो और झीलो को साफ-साफ देख सकते हैं।"

वह कुछ क्षण रुक कर फिर कहने लगे, "आकाश बिलकुल काला दिखाई देता था। तारे कहीं अधिकप्रकाशमान थे। पृथ्वी के

चारो ओर बहुत ही सुन्दर नीले रग का मण्डल दिखाई देता था। पृथ्वी के क्षितिज का किनारा चमकीले नारगी रग का ज्ञात होता है जो धीरे-धीरे इन्द्रधनुष के रगो मे परिवर्तित हो जाता है।

यूरी गगारिन ने अपना हाथ ऊपर उठाते हुए फिर कहा, "आप अपनी बाँहे ऊपर कर लें, फिर वे वैसी ही रहेंगी, आपको ताकत लगाने की आवश्यकता नही। कोई वस्तु रखनी है, उसे ऊपर रख दीजिए, वह गिरेगी नही, ऐसी रहेगी जैसे ऊपर तैर रही हो।"

एक पत्रकार ने यूरी गगारिन से पूछा, "अन्तरिक्ष आपको कैसा लगा?"

मेजर गगारिन ने उत्तर दिया, "अन्तरिक्ष मुझे अपने घर जैसा ही लगा। मैंने वैसे ही खाया-पिया जैसा पृथ्वी पर खाता-पीता हूँ। मैंने अपनी डायरी भी ठीक से लिखी, मेरे लेख मे कोई अन्तर नही आया, यद्यपि मेरा हाथ 'भारहीन' था। भारहीनता से गुरुत्वाकर्षण की दशा मे आने पर भी मुझे कोई कष्ट महसूस नहीं हुआ।" ये है अन्तरिक्ष यात्री के अनुभव।

रूस और अमरीका—इन दोनो देशो मे अन्तरिक्ष-यात्रा के सम्बन्ध मे कठिन प्रतियोगिता है। यूरी गगारिन द्वारा अन्तरिक्ष में उडान भरने से अमरीका मे खलबली मच गई। अमरीका के अन्तरिक्ष कार्यक्रम की कटु आलोचना की गई और इसकी जाँच की माँग भी की गई। तभी एक महीने के भीतर ही अमरीका के एक ३७ वर्षीय यान-चालक एलेन शेपर्ड की अन्तरिक्ष यात्रा का समाचार सुना।

शेपर्ड ने मकरी कैंप्सूल मे ११५ मील की ऊँचाई तक यात्रा की और प्रथम बार इतनी ऊँचाई पर किसी यान को सफल सचालन के बाद सफलतापूर्वक पृथ्वी पर ले आया गया। यह कैंप्सूल धनुषाकार मार्ग बनाता हुआ गया और १५ मिनट बाद एटलांटिक सागर मे उतरा, जहाँ वैज्ञानिक, डाक्टर और मल्लाह पहले से ही उपस्थित थे।

नौसैनिक कमाण्डर शेपर्ड ने अपनी उडान के समय जो दृश्य देखा, वह बडा आकर्षक था। लगभग गगारिन के समान ही उसने भी पृथ्वी के सौन्दर्य का वर्णन किया है।

अनेक वैज्ञानिक समीक्षको ने गगारिन और शेपर्ड की उडानो की तुलना की है। उनका कहना है कि रूसी राकेट की शक्ति आठ लाख पौंड थी, जबकि मकरी कैंप्सूल को ले जाने वाले रैडस्टोन राकेट की शक्ति केवल ७८,००० पौंड थी। शेपर्ड केवल साढे-चार हजार मील प्रति घटा की गति से उडा, जबकि गगारिन १८,००० मील प्रति घटा की गति से। शेपर्ड की उडान केवल १५ मिनट की थी, जबकि गगारिन १०८ मिनट तक उडा और गगारिन की अपेक्षा शेपर्ड ने केवल सौवें भाग की यात्रा की।

जो भी हो, वैज्ञानिको ने शेपर्ड की उडान को गगारिन की उडान से किसी भी प्रकार कम नही आँका है। अन्तरिक्ष नाटक के एक दृश्य मे गगारिन हीरो बना तो दूसरे दृश्य मे शेपर्ड।

यद्यपि अब तक अन्तरिक्ष मे मानव ने अनेक उडानें भर ली हैं, परन्तु अभी भी अनेक समस्याएँ हैं जिनका वैज्ञानिको को सामना करना है। गगारिन ने वैज्ञानिको की अनेक धारणाओ को निर्मूल सिद्ध कर दिया है। विकिरण का उन पर कोई प्रभाव नही पडा है, उनके शरीर की प्रक्रियाएँ भी पूर्ववत् चालू

रहीं। उन्होंने भारहीनता के प्रभावो को भी सहा और उसे उन्होंने आनन्ददायक अनुभव किया।

यूरी गगारिन की अन्तरिक्ष यात्रा-अवधि बहुत कम थी, लेकिन जब मानव काफी समय तक अन्तरिक्ष मे रहेगा तो विशेष परिस्थितियो के परिणामस्वरूप उसे अनेकानेक अनुभव होंगे। उसकी भूख मे कमी या ज्यादती हो सकती है। साँस लेने मे कठिनाई हो सकती है और जीव-कोषो पर विकिरण का प्रभाव पड सकता है। हो सकता है, मानव को अन्तरिक्ष मे अकेलापन भी अनुभव हो और शून्याकाश में विचरण करने का भय भी मानव मन मे रहेगा।

१९६७ के आरम्भ मे ही अमरीका के तीन अन्तरिक्ष-यात्री अपनी यात्रा पूरी होने से पूर्व ही यान्त्रिक गडबडी के कारण शहीद हो गये। चन्द्रमा पर मानव की विजय निश्चित है, हो सकता है इस सफलता-प्राप्ति के ध्येय मे अनेक व्यक्तियो को और शहीद होना पडे।

साराश यह है कि पृथ्वी जैसी परिस्थितियाँ न मिलने के कारण मानव को अन्तरिक्ष मे अधिक समय तक विचरण करने में अनेक समस्याओ का सामना करना पडेगा। वैज्ञानिक इन समस्याओ का अध्ययन करने और इन्हे सुलझाने मे अपनी पूरी शक्ति के साथ जुटे हुए हैं।

अब जब रूसी राकेट चन्द्रमा पर सफलतापूर्वक पहुँच ही चुका है तो न जाने, आने वाली घडियो मे किस शुभ बेला में मानव के चरण भी चाँद पर पडें और उसका संजोया स्वप्न—चाँद पर विजय—साकार ले!

● ● ●

मुद्रक बन्धु प्रिंटिंग सर्विस क०, दिल्ली ११००३२